भूमिका

यह पुस्तक मेरी पुरानी पुस्तक 'प्राचीन भारतका कला-विलास' का परिवर्धित और परिवर्तित रूप है। 'कला-विलास' बहुत अशुद्ध छपा था। इसमें उन अशुद्धियोंको दूर कर दिया गया है। बहुत-से नए विषय इसमें जोड़ भी दिए गए हैं। इस प्रकार यह पुस्तक प्रायः दूसरी पुस्तक बन गई है। इसीलिए इसका नाम भी थोड़ा परिवर्तित कर दिया गया है। पुस्तकमें इस बार कुछ प्राचीन चित्रोंकी प्रतिलिपि दी गई है जो वक्तव्य-को ठीक ठीक समझनेमें सहायक सिद्ध होगी। इन चित्रोंकी प्रतिलिपि कला-भवन (काशी) के सहृदय शिल्पी श्रीअम्बिकाप्रसाद दुबेजीने बड़े परिश्रमके साथ प्रस्तुत की है। मैं हृदयसे उनकी इस कृपाके लिए अनुगृहीत हूँ।

श्री प० नाथूराम प्रेमीने बड़े उत्साह और प्रेमसे पुस्तकका मुद्रण कराया है। उनके प्रति भी मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। जिन लेखकोंकी रचनाओंसे मुझे इस पुस्तकके लिखनेमें सहायता मिली है उनका उल्लेख यथास्थान हो गया है। मैं उन सब लोगोंका आभार स्वीकार करता हूँ।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

काशी विश्वविद्यालय
१९—७—५२

विषय-सूची

परिशिष्ट

प्राचीन भारतके कलात्मक विनोद

१—कलात्मक विलासिताकी योग्यता

प्राचीन भारतके कलात्मक विनोदोंकी चर्चा थोड़ेमें कर सकना संभव नहीं है। 'प्राचीन भारत' बहुत व्यापक शब्द है। इसका साहित्य हजारों वर्षोंमें परिव्याप्त है और इसके इतिहासका पद-संचार लाखों वर्गमीलमें फैली एकाधिक मानव-मण्डलियोंके जीवन-विश्वासों और विचारोंके ऊपर चिह्नित है, इसलिये दो या तीन व्याख्यानोंमें हम उसके उस पहलूका सामान्य परिचय भी नहीं पा सकेंगे जिसे कला-विलास या कलात्मक विनोद कहा जा सकता है। फिर इस देशके इतिहासका जितना अंश जाना जा सका है उसकी अपेक्षा वह अंश कम महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना नहीं जाना जा सका। कभी-कभी तो वह अधिक महत्त्वपूर्ण है। हमारे पास जो पुराना साहित्य उपलब्ध है उसका एक महत्त्वपूर्ण अंश वैरागी साधुओंद्वारा वैरागी साधुओंके लिये ही लिखा गया है। नाच-गानका स्थान उसमें है ही नहीं, फिर भी वह लोकविच्छिन्न नहीं है इसीलिये किसी न किसी बहाने उसमें लोक-प्रचलित कलात्मक विनोदोंकी बात आ ही जाती है। बौद्धों और जैनोंके विशाल साहित्यमें ऐसे उल्लेख नितान्त कम नहीं हैं।

परन्तु इन विनोदोंका यथार्थ वर्णन लौकिक रसके उपस्थापक काव्यों, नाटकों, कथा-आख्यायिकाओं और इनकी विवेचना करनेवाले ग्रंथोंमें ही मिलता है। दुर्भाग्यवश हमें इस श्रेणीका पुराना साहित्य बहुत कम मिला है। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि सन् ईसवीके पूर्व इस प्रकारका साहित्य प्रचुर मात्रामें विद्यमान था। भरतके नाट्य-शास्त्रमें, नृत्य, नाट्य आदिका जैसा सुसंबद्ध विश्लेषण है और नाट्य रूढ़ियोंकी जैसी सुविस्तृत सूची प्राप्त है वह इस बातका पक्का प्रमाण है कि भरत मुनिको इस श्रेणीका बहुत विशाल साहित्य ज्ञात था। प्राचीनतर साहित्यसे इस बातका पर्याप्त प्रमाण भी मिल जाता है। पर वह समूचा साहित्य

केवल अनुमानका ही विषय रह गया है। यद्यपि हम इस विषयका यथार्थ वर्णन खोजें तो सन् ईसवीके कुछ सौ वर्ष पहलेसे लेकर कुछ सौ वर्ष बाद तकके साहित्यको प्रधान अवलंब बनाना पड़ेगा। पाली-साहित्यसे तात्कालिक सामाजिक पृष्ठ-भूमिका अच्छा आभास मिलता है, पर निश्चित रूपसे यह कहना कठिन ही है कि वे बुद्धके समकालीन हैं ही। उनका अन्तिम रूपसे सम्पादन बहुत बादमें हुआ था। यही कहानी जैन आगमोंकी है जिनका संकलन और भी बाद हुआ। इनमें नई बात आई ही नहीं होगी, यह जोर देकर नहीं कहा जा सकता।

इसलिये सन् ईसवीके थोड़ा इधर-उधरसे आरम्भ करना ही ठीक जान पड़ता है। फिर इसके ऐतिहासिक कारण भी हैं जिनके विषयमें अभी निवेदन कर रहा हूँ। इस दृष्टिसे देखिए तो इस पुस्तकका विवेच्य-काल आपको सबसे अधिक सामग्री देने योग्य ही मालूम होगा।

यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि विलासिता और कलात्मक-विलासिता एक ही वस्तु नहीं है। थोथी विलासितामें केवल भूख रहती है—नंगी बुभुक्षा। पर कलात्मक विलसिता संयम चाहती है, शालीनता चाहती है, विवेक चाहती है। सो, कलात्मक विलास किसी जातिके भाग्यमें सदा-सर्वदा नहीं जुटता। उसके लिये ऐश्वर्य चाहिए, समृद्धि चाहिए, त्याग और भोगका सामर्थ्य चाहिए और सबसे बढ़कर ऐसा पौरुष चाहिए जो सौन्दर्य और सुकुमारताकी रक्षा कर सके। परन्तु इतना ही काफी नहीं है। उस जातिमें जीवनके प्रति ऐसी एक दृष्टि सुप्रतिष्ठित होनी चाहिए जिससे वह पशु-सुलभ इन्द्रिय-वृत्तिको और बाह्य पदार्थोंको ही समस्त सुखोंका कारण न समझनेमें प्रवीण हो चुकी हो, उस जातिकी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परंपरा बड़ी और उदार होनी चाहिए और उसमें एक ऐसा कौलीन्य-गर्व होना चाहिए जो आत्म-मर्यादाको समस्त दुनियवी सुख-सुविधाओंसे श्रेष्ठ समझता हो, और जीवनके किसी भी क्षेत्रमें असुन्दरको बर्दाश्त न कर सकता हो। जो जाति सुन्दरकी रक्षा और सम्मान करना नहीं जानती वह विलासी भले ही हो ले पर कलात्मक-विलास उसके भाग्यमें नहीं बदा होता। भारतवर्षमें एक ऐसा समय बीता है जब इस देशके निवासियोंके प्रत्येक कणमें जीवन था, पौरुष था, कौलीन्य-गर्व था और सुन्दरके रक्षण-पोषण और सम्माननका सामर्थ्य था। उस समय उन्होंने बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित किए थे, संधि और विग्रहके द्वारा समूचे ज्ञात जगत्की सभ्यताका नियन्त्रण किया था और वाणिज्य और यात्राओंके द्वारा अपनेको समस्त सभ्य जगत्का सिरमौर बना लिया था।

उस समय इस देशमें एक ऐसी समृद्ध नागरिक सभ्यता उत्पन्न हुई थी, जो सौन्दर्यकी सृष्टि, रक्षण और सम्मानमें अपनी उपमा स्वयं ही थी। उस समयके काव्य-नाटक, आख्यान, आख्यायिका, चित्र, मूर्ति, प्रासाद आदिको देखनेसे आजका अभागा भारतीय केवल विस्मय-विमुग्ध होकर देखता रह जाता है। उस युगकी प्रत्येक वस्तुमें छन्द है, राग है और रस है। उस युगमें भारतवासियोंने जीनेकी कला आविष्कार की थी। यह काल बहुत दिनोंतक जीता रहा है, पर मैंने अपने वक्तव्यके लिये गुप्तकालके कुछ सौ वर्ष पूर्वसे लेकर कुछ सौ वर्ष बाद तकके साहित्यको ही प्रधान रूपसे उपजीव्य मान लिया है। इस प्रकार हमारा काल सीमित हो गया है।

२—काल-सीमाका औचित्य

पूछा जा सकता है कि हमारे इस सीमा-निर्धारणका औचित्य क्या है? हजारों वर्षकी विपुल साहित्य-साधनाको छोड़कर मैंने इन आठ-दस सौ वर्षोंकी साहित्यिक साधनाको ही क्यों आलोचनाके लिये चुना है?

कारण बताता हूँ। सन् ईसवीकी पहली शताब्दीमें मथुराके कुषाण सम्राटोंके शासनसम्बन्धी ऐतिहासिक चिह्नोंका मिलना एकाएक बन्द हो जाता है। इसके बादके दो-तीन सौ वर्षोंका काल भारतीय इतिहासका अंधकार-युग कहा जाता है। आए दिन विद्वान् इस युगके इतिहाससम्बन्धी नये-नये सिद्धांत उपस्थित करते रहते हैं, और पुराने सिद्धांतोंका खण्डन करते रहते हैं। अबतक इस कालका इतिहास लिखने योग्य पर्याप्त सामग्री नहीं उपलब्ध हुई है। किन्तु सन् ३२० ई० में मगधका प्रसिद्ध पाटलिपुत्र ४०० वर्षोंकी गाढ़ निद्राके बाद अचानक जाग उठता है। इसी वर्ष चन्द्रगुप्त नामधारी एक साधारण राजकुमार, जिसका विवाह सुप्रसिद्ध लिच्छवि-वंशमें हुआ था और इसीलिये जिसकी ताकत बढ़ गई थी अचानक प्रबल पराक्रमसे उत्तर भारतमें स्थित विदेशियोंको उखाड़ फेंकता है। उसके पुत्र समुद्रगुप्तने, जो अपने योग्य पिताका योग्य पुत्र था, इस उन्मूलन-कार्यको और भी आगे बढ़ाया और उसके योग्यतर प्रतापी पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त या सुप्रसिद्ध विक्रमादित्यने अपने रास्तेमें एक भी काँटा नहीं रहने दिया। उसका सुव्यवस्थित साम्राज्य ब्रह्मदेशसे पश्चिम समुद्रतक और हिमालयसे नर्मदातक फैला हुआ था। गुप्त

सम्राटोंके इस सुदृढ़ साम्राज्यने भारतीय जनसमूहमें नवीन राष्ट्रीयता और विद्या-प्रेमका सञ्चार किया। इस युगमें राजकार्यसे लेकर समाज, धर्म और साहित्य तकमें एक अद्‌भुत क्रान्तिका परिचय मिलता है। ब्राह्मण धर्म और संस्कृत भाषा एक-दम नवीन प्राण लेकर जाग उठे। पुराने क्षत्रपोंद्वारा व्यवहृत प्रत्येक शब्द मानो उद्देश्यके साथ बहिष्कार कर दिए गए। कुषाणोंद्वारा समर्थित गान्धार-शैलीकी कला एकाएक बन्द हो गई और सम्पूर्णतः स्वदेशी मूर्ति-शिल्प और वास्तु-शिल्पकी प्रतिष्ठा हुई। राजकीय पदोंके नाम नये सिरेसे एकदम बदल दिए गए। समाज और जातिकी व्यवस्थामें भी परिवर्तन किया गया था—इस बातका सबूत मिल जाता है। सारा उत्तरी भारत जैसे एक नया जीवन लेकर नई उमंगके साथ प्रकट हुआ। इस कालसे भारतीय चिन्ता-स्रोत एकदम नई दिशाकी ओर मुड़ता है। कला और साहित्यकी चर्चा करनेवाला कोई भी व्यक्ति इस नये घुमावकी उपेक्षा नहीं कर सकता। जिन दो-तीन सौ वर्षोंकी ओर शुरूमें इशारा किया गया है, उनमें भारत-वर्षमें शायद विदेशी जातियोंके एकाधिक आक्रमण हुए थे, प्रजा संत्रस्त थी, नग-रियाँ विध्वस्त हो गई थीं, जनपद आगकी लपटोंके शिकार हुए थे। कालिदास-ने अयोध्याकी दारुण दीनावस्था दिखानेके बहाने मानो गुप्त सम्राटोंके पूर्ववर्ती काल-के समृद्ध नागरिकोंकी जो दुर्दशा हुई थी उसका अत्यन्त हृदयविदारी चित्र खींचा है। शक्तिशाली राजाके अभावमें नगरियोंकी असंख्य अट्टालिकायें भग्न, जीर्ण और पतित हो चुकी थीं, उनके प्राचीर गिर चुके थे, दिनान्तकालीन प्रचण्ड आँधीसे छिन्न-भिन्न मेघपटलकी भाँति वे श्रीहीन हो गए थे। नागरिकोंके जिन राजपथोंपर घनी रातमें भी निर्भय विचरण करनेवाली अभिसारिकाओंके नूपुर-शिंजनका स्वर सुनाई देता था वे राजपथ शृगालोंके विकट नादसे भयङ्कर हो उठे थे। जिन पुष्क-रिणियोंमें जलक्रीड़ा-कालीन मृदङ्गोंकी मधुर ध्वनि उठा करती थी उनमें जंगली भैंसे लोटा करते थे और अपने शृङ्ग-प्रहारसे उन्हें गँदला कर रहे थे। मृदङ्गके तालपर नाचनेके अभ्यस्त सुवर्णयष्टिपर विश्राम करनेवाले क्रीड़ा-मयूर अब जङ्गली हो चुके थे, उनके मुलायम बर्हभार दावाग्निसे दग्ध हो चुके थे। अट्टालिकाओंकी जिन सीढ़ियोंपर रमणियोंके सराग-पद संचरण करते थे, उनपर व्याघ्रोंके लहू-लुहान पद दौड़ा करते थे, बड़े-बड़े राजकीय हाथी जो पद्मवनमें अवतीर्ण होकर मृणालनालोंद्वारा करेणुओंकी सम्वर्धना किया करते थे, सिंहोंसे आक्रांत हो रहे थे। सौधस्तम्भोंपर लकड़ीकी बनी स्त्री-मूर्तियोंका रंग धूसर हो गया था और उनपर साँपोंकी लटकती

हुई केंचुली ही उत्तरीयका कार्य कर रही थी। हर्म्योंमेंके अमल-धवल प्राचीर काले पड़ गए थे, दीवारोंके फाँकमेंसे तृणावलियाँ निकल पड़ी थीं, चन्द्रकिरणें भी उन्हें पूर्ववत् उद्‌भासित नहीं कर सकती थीं। जिन उद्यान-लताओंसे विलासिनियाँ अति सदय भावसे पुष्प चयन करती थीं उन्हींको वानरोंने बुरी तरहसे छिन्न-भिन्न कर डाला था; अट्टालिकाओंके गवाक्ष रातमें न तो मांगल्य प्रदीपसे और न दिनमें गृह-लक्ष्मियोंकी मुखकांतिसे ही उद्भासित हो रहे थे, मानों उनकी लज्जा ढकनेके लिये ही मकड़ियोंने उनपर जाला तान दिया था! नदियोंके सैकतोंपर पूजन-सामग्री नहीं पड़ती थी, स्नानकी चहल-पहल जाती रही थी, उपान्त देशके वेतस-लता-कुञ्ज सूने पड़ गए थे (रघुवंश १६-११-२१)। ऐसे ही विध्वस्त भारतवर्षको गुप्त-सम्राटोंने नया जीवन दिया। कालिदासके ही शब्दोंमें कहा जाय तो सम्राट्के नियुक्त शिल्पियोंने प्रचुर उपकरणोंसे उस दुर्दशाग्रस्त नगरीको इस प्रकार नयी बना दिया जैसे निदाघ-ग्लपित धरित्रीको प्रचुर जल-वर्षणसे मेघगण!

तां शिल्पिसंघाः प्रभुणा नियुक्तास्तथागतां संभृतसाधनत्वात्।
पुरं नवीचक्रुरपां विसर्गात् मेघा निदाघग्लपितामिवोर्वीम्॥

(रघुवंश १६-३८)

गुप्त सम्राटोंके इस पराक्रमको भारतीय जनताने भक्ति और प्रेमसे देखा। शताब्दियाँ और सहस्राब्दक बीत गये पर आज भी भारतीय जीवनमें गुप्त सम्राट घुले हुए हैं। केवल इसलिये नहीं कि विक्रमादित्य और कालिदासकी कहानियाँ भारतीय लोक-जीवनका अविच्छेद्य अंग बन गई हैं, बल्कि इसलिये कि आजके भारतीय धर्म, समाज, आचार-विचार, क्रिया-काण्ड, आदिमें सर्वत्र गुप्तकालीन साहित्यकी अमिट छाप है। जो पुराण और स्मृतियाँ तथा शास्त्र निस्संदिग्ध रूपसे आज प्रमाण माने जाते हैं वे अन्तिम तौरपर गुप्त-कालमें रचित हुए थे, वे आज भी भारतवर्षका चित्त हरण किए हुए हैं, जो शास्त्र उन दिनों प्रतिष्ठित हुए थे वे आज भी भारतीय चिन्ता-स्रोतको बहुत कुछ गति दे रहे हैं। आज गुप्त-कालके पूर्ववर्ती शास्त्र और साहित्यको भारतवर्ष केवल श्रद्धा और भक्तिसे पूजा भर करता है, व्यवहारके लिये उसने इस कालके निर्धारित ग्रन्थोंको ही स्वीकार किया है। गुप्त-युगके बाद भारतीय मनीषाकी मौलिकता भोथी हो गई। टीकाओं और निबन्धोंका युग शुरू हो गया। टीकाओंकी टीका और उसकी भी टीका, इस प्रकार मूलग्रंथकी टीकाओंकी छः-छः आठ-आठ पुश्ततक चलती रहीं। आज जब हम किसी विषयकी आलोचना करते

समय 'हमारे यहाँ' के शास्त्रोंकी दुहाई देते हैं, तो अधिकतर इसी कालके बने ग्रंथों-की ओर इशारा करते हैं। यद्यपि गुप्त-सम्राटोंका प्रबल पराक्रम छठी शताब्दीमें ढल पड़ा था, पर साहित्यके क्षेत्रमें उस युगके स्थापित आदर्शोंका प्रभाव किसी-न-किसी रूपमें ईसाकी नौवीं शताब्दीतक चलता रहा। मोटे तौरपर इस काल तकको हम गुप्त-काल ही कहे जायँगे।

३—इस कालके साहित्यका प्रभाव

सन् १८८३ई० में मैक्समूलरने अपना वह प्रसिद्ध मत उपस्थित किया था जिसमें कहा गया था कि यवनों, पार्थियनों और शकों आदिके द्वारा उत्तर-पश्चिम भारतपर बारबार आक्रमण होते रहनेके कारण कुछ कालके लिये संस्कृतमें साहित्य बनना बन्द हो गया था। कालिदासके युगसे, नये सिरेसे संस्कृत भाषाकी पुनः प्रतिष्ठा हुई और उसमें एक अभिनव ऐहिकतापरक (सेक्यूलर) स्वर सुनाई देने लगा (इण्डिया, १८८३ पृ० २८१)। यह मत बहुत दिनोंतक विद्वन्मण्डलीमें समादृत रहा, पर अब नहीं माना जाता। फिर भी, जैसा कि डाक्टर कीथने कहा है, यह इस रूपमें अब भी जी रहा है कि उक्त पुनः-प्रतिष्ठाके युगके पहलेतक संस्कृत भाषाके ऐहिकतापरक भावोंके लिये बहुत कम प्रयुक्त होती थी। ऐसे भावोंका प्रधान वाहक प्राकृत भाषा थी। प्राकृतकी ही पुस्तकें बादमें चलकर ब्राह्मणों द्वारा संस्कृतमें अनूदित हुईं (हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर १८२८, पृ० ३६)। स्वयं कीथ साहब इस मतको नहीं मानते। उन्होंने वैदिक साहित्यके प्रमाणोंसे यह सिद्ध कर दिखानेका प्रयत्न किया है कि ऐहिकता-परक काव्यका बीज बहुत प्राचीन कालके संस्कृत साहित्य-में भी वर्तमान था। राजाओंकी प्रशंसा या स्तुति गानेवाले कवि उन दिनों भी थे, और इन स्तुति-सम्बन्धी गानोंको जो अधिकाधिक परिमार्जित रूप देनेकी चेष्टा की गई होगी, इस कल्पनामें बिल्कुल ही अतिरंजना नहीं है। परन्तु संस्कृतमें ऐहि-कतापरक रचना होती रही हो या नहीं, निर्विवाद बात यह है कि सन् ईसवीके आसपास ऐहिकतापरक रचनाओंका बहुत प्राचुर्य हो गया था। इनका आरम्भ भी संभवतः प्राकृतसे हुआ था। इस प्रकारकी रचनाओंका सबसे प्राचीन और साथ ही सबसे प्रौढ़ सङ्कलन 'हाल'की सत्तसईमें बताया जाता है। इस ग्रंथका काल कुछ लोग सन् ईसवीके आसपास मानते और कुछ लोग चार-पाँच सौ वर्ष बाद। कुछ पण्डितों-

का मत है कि हालकी सत्तसईमें जो ऐहिकतापरक रचनायें हैं उनके भावोंका प्रवेश भारतीय साहित्यमें किसी विजातीय मूलसे हुआ है। यह मूल आभीरों या अहीरों-की लोक-गाथायें हैं। यहाँ इस विषयपर विस्तारपूर्वक विचार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह हमारे वक्तव्यके बाहर चला जाता है। हमने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्यकी भूमिका' में इस प्रश्नपर कुछ ज्यादा विस्तारके साथ आलोचना की है। यहाँ प्रकृत इतना ही है कि गुप्त-सम्राटोंकी छत्रच्छायामें एकाएक नवीन अज्ञातपूर्व स्फूर्तिका परिचय मिलता है।

४—ऐहिकता-परक काव्य

यद्यपि वैदिक साहित्यमें गद्य-पद्यमें लिखी हुई कहानियोंकी कमी नहीं है, पर जिसे हम अलंकृत काव्य कहते हैं, जिसका प्रधान उद्देश्य रस-सृष्टि है, निश्चित रूप-से उसका बहुल प्रचार गुप्त सम्राटोंकी छत्रछायामें ही हुआ। यद्यपि यह निश्चित है कि जिस रूपमें सुविकसित गद्यका प्रचार इस युगमें दिखाई देता है उस रूपको प्राप्त होनेमें उसे कई शताब्दियाँ लग गई होंगी। सौभाग्यवश हमारे पास कुछ ऐसी प्रशस्तियाँ प्राप्त हैं जिनपरसे अलंकृत गद्यके प्राचीन अस्तित्वमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। गिरनारमें महाक्षत्रप रुद्रदामा (साधारणतः 'रुद्रदामन्' रूपमें परि-चित) का खुदवाया हुआ जो लेख मिला है, उससे निस्संदिग्ध रूपसे प्रमाणित होता है कि सन् १५० ई० के पूर्व संस्कृतमें सुन्दर गद्यकाव्य लिखे जाते थे। यह सारा लेख गद्यकाव्यका एक नमूना है। इसमें महाक्षत्रपने अपनेको 'स्फुट-लघु-मधुर-चित्र-कान्त-शब्द-समयोदारालंकृत-गद्य-पद्य' का मर्मज्ञ बताया है, जिससे अलंकृत गद्योंके ही नहीं, अलंकार शास्त्रके अस्तित्वका भी प्रमाण पाया जाता है। यह गद्यकाव्य क्या थे, यह तो हमें नहीं मालूम, पर उनकी रचना प्रौढ़ और गुम्फ आकर्षक होते होंगे, इस विषयमें सन्देहकी जगह नहीं है। सम्राट् समुद्रगुप्तने प्रयागके स्तम्भपर हरिषेण कवि द्वारा रचित जो प्रशस्ति खुदवाई थी वह एक दूसरा सबूत है। हरिषेणने इस प्रशस्तिको सम्भवतः सन् ५३० ई० में लिखा होगा। इसमें गद्य और पद्य दोनोंका समावेश है और रचनामें काव्यके सभी गुण उपस्थित हैं। सुबन्धु और बाणने अपने रोमांसोंके लिये जिस जातिका गद्य लिखा है, इस प्रशस्तिका गद्य उसी जातिका है। हरिषेणके इस काव्यसे निश्चित रूपसे प्रमाणित होता है कि इसके पहले भी सरस

पद्य और गद्यकाव्यका अस्तित्व था ।

भरतके नाट्य-शास्त्र, नन्दिकेश्वरके अभिनयदर्पण, वात्स्यायनके कामसूत्र, भासके अनेक नाटक, कौटिल्यके अर्थशास्त्र आदि महत्त्वपूर्ण ग्रंथोंके प्रकाशन और आलोचनके बाद इस बातमें अब किसीको सन्देह नहीं रह गया है कि सन् ईसवीके आसपास भारतीय-जनताके पास ऐहिकतापरक सरस साहित्यकी कमी नहीं थी। अब शायद ही कोई संस्कृत-वेत्ता ऊपरकी अटकलपच्चू बातोंको महत्त्व देता हो। परन्तु फिर भी यह सत्य है कि उस विशाल और महान् साहित्यका एक अंशमात्र ही हमें मिल सका है और अधिकतर हमें परवर्तीकालके ग्रंथोंका ही आश्रय लेना पड़ता है ।

इसीलिये इस वक्तव्यको मैंने जो गुप्त-साम्राज्यके कुछ इधर-उधरके समयतक सीमित रखा है वह बहुत अनुचित नहीं है । मैं उसके पूर्व और पश्चात्के साहित्य-से भी कभी-कभी साधन जुटानेका प्रयास करूँगा, पर प्रधान उपजीव्य इस कालके साहित्यको मानूँगा । यह तो कहना ही व्यर्थ है कि इस सीमित कालका भी पूरा परिचय मैं नहीं दे सकूँगा। आपका दिया हुआ समय और मेरी अल्प जानकारी दोनों ही ऐसे अंकुश हैं जो मुझे इधर-उधर नहीं भटकने देंगे ।

५—कला—महामायाका चिन्मय विलास

कलात्मक आमोदोंकी चर्चा करनेके पहले यह जान रखना आवश्यक है कि इन आचरणोंके तीन अत्यन्त स्पष्ट पहलू हैं—(१) उनके पीछेका तत्त्ववाद, (२) उनका कल्पनात्मक विस्तार और (३) उनकी ऐतिहासिक परम्परा । मनुष्य-समाजमें सामाजिक रूपसे प्रचलित प्रत्येक आचरणके पीछे एक प्रकारका दार्शनिक तत्त्ववाद हुआ करता है । कभी-कभी जाति उस तत्त्वको अनजानमें स्वीकार किए रहती है और कभी-कभी जानबूझकर । जो बातें अनजानमें स्वीकृत हुई हैं वे सामाजिक रूढ़ियोंके रूपमें चलती रहती हैं, परन्तु जातिकी ऐतिहासिक परम्पराके अध्ययनसे स्पष्ट ही पता चलता है कि वह किस कारण प्रचलित हुआ था । इस प्रकार प्रथम और तृतीय पहलू आपाततः विरुद्ध दिखनेपर भी जातिकी सुचिन्तित तत्त्व-विद्यापर आश्रित होते हैं । दूसरा पहलू इन आचरणोंकी गाढ़ अनुभूतिवश प्रकट किया हुआ हार्दिक उल्लास है । उसमें कल्पनाका खूब हाथ होता है । परन्तु वह चूँकि हृदयसे

सीधे निकला हुआ होता है इसलिए वह उस जातिकी उस विशेष प्रवृत्तिको समझानेमें अधिक सहायक होता है जिसका आश्रय पाकर वह आनन्दोपभोग करती है। इस पुस्तकमें इसी विशेष प्रवृत्तिको सामने रखनेका प्रयत्न किया गया है।

सच्चिदानन्दस्वरूप महाशिवकी आदि सिसृक्षा ही शक्तिके रूपमें वर्तमान है। प्रलयकालमें जब महाशिव निष्क्रिय रहते हैं तब समस्त जगत्प्रपञ्चको आत्मसात् करके महामाया विराजती रहती हैं। जब शिवको लीलाके प्रयोजनकी अनुभूति होती है तो फिर यही महाशक्तिरूपा महामाया जगत्को प्रपंचित करती हैं। शिवकी लीला-सखी होनेके कारण ही उन्हें ललिता कहते हैं। यह लोक-रचना उनकी क्रीड़ा है—इसमें उन्हें आनन्द आता है; चिन्मय शिव उनके प्रिय सखा हैं—क्रीड़ा-विनोदके साथी हैं; सदानन्द उनका आहार है—आनन्द ही उनका एकमात्र भोग्य है; और सद्भक्तोंका पवित्र हृदय ही उनका वास है। 'ललिता स्तवराजमें' कहा है :

क्रीड़ा ते लोकरचना सखा ते चिन्मयः शिवः ।
आहारस्ते सदानन्दो वासस्ते हृदयं सताम् ॥

ललिता सहस्रनाममें इन्हें 'चित्कला,' 'आनन्दकलिका,' 'प्रेमरूपा,' 'प्रियंकरी,' 'कलानिधि,' 'काव्यकला,' 'रसज्ञा,' 'रसशेवधि' कहकर स्तुति की गई है। जहाँ कहीं मनुष्य-चित्तमें सौन्दर्यके प्रति आकर्षण है, सौन्दर्य-रचनाकी प्रवृत्ति है, सौन्दर्यके आस्वादनका रस है—वहाँ महामायाका यही रूप वर्तमान रहता है, इसलिए सौन्दर्यके प्रति आकर्षणसे मनुष्यके चित्तमें परमशिवकी आदि-क्रीड़ेप्सा ही मूर्तिमान हो उठती है, वह प्रकारान्तरसे महाशक्तिके ललिता-रूपकी ही पूजा करता है। ललिता कला और आनन्दकी निधि हैं, वे ही समस्त प्रेरणाओंके रूपमें विराजती हैं।

६—कला—महामायाकी सम्मूर्तनशक्ति

शैव सिद्धान्तमें कलाका प्रयोग मायाके कंचुकके रूपमें भी हुआ है। यह कलाका स्थूलतर रूप है। यह शिवके रूपमें, रेखामें, मूर्तभाव प्रकाश करनेवाली मानसी शक्ति है—व्यक्तिमें नहीं समष्टिमें। सो आगमों और तन्त्रोंमें कलाका दार्शनिक अर्थमें भी प्रयोग हुआ है। इस प्रयोगको समझनेपर आगेकी विवरणी ज्यादा स्पष्ट रूपसे समझमें आएगी। कला मायाके पाँच कंचुकों या आवरणोंमेंसे एक कंचुक या

आवरण होती है। काल-नियति-राग-विद्या-कला ये मायाके पाँच कंचुक हैं। इन्हींसे शिवरूप व्यापक चैतन्य आवृत होकर अपनेको जीवात्मा समझने लगता है। इन पाँच कंचुकोंसे आवृत होनेके पहले वह अपने वास्तविक स्वरूपको समझता रहता है। उसका वास्तविक स्वरूप क्या है ?-नित्यत्व-व्यापकत्व-पूर्णत्व-सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व उसके सहज धर्म हैं। अर्थात् वह सर्व कालमें और सर्व देशमें व्याप्त है, वह अपने आपमें परिपूर्ण है, वह ज्ञानस्वरूप है और सब कुछ करनेका सामर्थ्य रखता है। मायासे आच्छादित होनेके बाद वह भूल जाता है कि वह नित्य है, यही मायाका प्रथम आवरण या कंचुक है। इसका दार्शनिक नाम काल है। जो नित्य था उसे कालका अनुभव नहीं होता, काल तो सीमाबद्ध व्यक्ति ही अनुभव करता है। इसी प्रकार जो सर्व देशमें है, वह अपनेको नियत देशमें स्थित एकदेशी मानने लगता है, यह मायाका दूसरा कंचुक या आवरण है। इसका शास्त्रीय नाम नियति है। नियति अर्थात् निश्चित देशमें अवस्थान। फिर जो पूर्ण था वह अपनेमें अपूर्णता अनुभव करने लगता है, अपनेको कुछ पानेके लिये उत्सुक बना देता है, उसे जिस 'कुछ' का अभाव खटकता है उसके प्रति राग होता है—यह मायाका तीसरा कंचुक है। जो सर्वज्ञ है वह अपनेको अल्पज्ञ मानने लगता है। उसे कोई सीमित वस्तुके ज्ञान प्राप्त करनेकी उत्सुकता अभिभूत कर लेती है। यह ज्ञानका कल्पित अभाव ही उसे छोटी-मोटी जानकारियोंकी ओर आकृष्ट करता है। यही विद्या है, यह मायाका चौथा कंचुक है। फिर, जो सब कुछ कर सकनेवाला होता है वह भूल जाता है कि मैं सर्वकर्त्ता हूँ। वह छोटी-मोटी वस्तुके बनानेमें रस पाने लगता है—यही कला है। यह मायाका पाँचवाँ कंचुक है, अर्थात् यह मायाकी रूपविधायिनी शक्ति है। इसी शक्तिके बलपर माया जीवत्वप्राप्त शिवको कुछ नयी रचना करनेकी बुद्धि देती है। नया रचा क्या जा सकता है ? सब कुछ तो महामायाने स्वयं प्रस्तुत कर रखा है। परन्तु इन्हीं उपादानोंसे इन्हींके समान और फिर भी इनसे विशिष्ट रचनाकी प्रवृत्ति महामायाकी दी हुई प्रवृत्ति है। इससे वह सुन्दरकी रचना करता है, लीलाका आनन्द पाता है और यदि सम्हल कर चला तो महामायाके ललिता-रूपका साक्षात्कार पाता है। ये सब कंचुक सत्य हैं। प्रत्येक मनुष्य इनसे बँधा है। परन्तु इनके दो पहलू होते हैं। जब ये मनुष्यको अपने आपतक ही सीमित रखते हैं तो ये बंधन बन जाते हैं; परन्तु जब ये अपने ऊपरवाले तत्त्वकी ओर उन्मुख करते हैं तो मुक्तिके साधन बन जाते हैं। इसीलिये जिस कंचुकका लक्ष्य वह कंचुक ही होता है वह कभी भारतीय समाजमें समादत

नहीं हुआ, परन्तु जो परमतत्त्वकी ओर उन्मुख कर देता है वही उत्तम है। कला भी वही श्रेष्ठ है जो मनुष्यको अपने आपमें ही सीमित न रखकर परम तत्त्वकी ओर उन्मुख कर देती है। कलाका लक्ष्य कला कभी नहीं है। उसका लक्ष्य है आत्म-स्वरूपका साक्षात्कार या परमतत्त्वकी ओर उन्मुखीकरण। हम आगे जो विवरण उपस्थित करेंगे उसमें यथासम्भव उसके अन्तर्निहित तत्त्ववादकी ओर बारबार अंगुलि निर्देश नहीं करेंगे। हमारा यह भी वक्तव्य नहीं है कि विलासियोंने सब समय उस अन्तर्निहित तवत्त्वादको समझा ही है, परन्तु इतना हम अवश्य कहेंगे कि भारतवर्षके उत्तम कवियों, कलाकारों और सहृदयोंके मनमें यह आदर्श बराबर काम करता रहा है। इसकी जो भोगमें विश्रान्ति है वह ठीक नहीं है। वह कला बन्धन है, पर जिसका इशारा परमतत्त्वकी ओर है वही कला कला है—

विश्रान्तिर्याऽस्य सम्भोगे सा कला न कला मता।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला॥

७—कलाकी साधना

यहाँपर यह भी कह रखना आवश्यक है कि प्राचीन भारतका यह रईस केवल दूसरोंसे सेवा करानेमें ही जीवनकी सार्थकता नहीं समझता था, वह स्वयं इन कलाओंका जानकार होता था। नागरकोंको खास-खास कलाओंका अभ्यास कराया जाता था। केवल शारीरिक अनुरंजन ही कलाका विषय न था, मानसिक और बौद्धिक विकासका ध्यान पूरी मात्रामें रखा जाता था। उन दिनों किसी पुरुषको राजसभा और सहृदय-गोष्ठियोंमें प्रवेश पा सकनेके लिये कलाओंकी जानकारी आवश्यक होती थी, उसे अपनेको गोष्ठी-विहारका अधिकारी सिद्ध करना होता था। कादम्बरीमें वैशम्पायन नामक तोतेको जब चाण्डाल-कन्या राजा शूद्रककी सभा-में ले गई तो उसके साथीने उस तोतेमें उन सभी गुणोंका होना बताया था जो किसी पुरुषको राजसभामें प्रवेश पानेके योग्य प्रमाणित कर सकते थे। उसने कहा था (कथामुख) कि यह तोता सभी शास्त्रार्थोंको जानता है, राजनीतिके प्रयोगमें कुशल है, गान और संगीत-शास्त्रकी बाईस श्रुतियोंका जानकार है, काव्य-नाटक आख्यायिका-आख्यानक आदि विविध सुभाषितोंका मर्मज्ञ भी है और कर्ता भी है, परिहासालापमें चतुर, वीणा वेणु, मुरज आदि वाद्योंका अतुलनीय श्रोता है, नृत्य-

प्रयोगके देखनेमें निपुण है, चित्रकर्ममें प्रवीण है, द्यूत-व्यापारमें प्रगल्भ है, प्रणय-कलहमें कोप करनेवाली मानवती प्रियाको प्रसन्न करनेमें उस्ताद है, हाथी, घोड़ा, पुरुष और स्त्रीके लक्षणोंको पहचानता है। कादम्बरीमें ही आगे चलकर चन्द्रापीड़को सिखाई गई कलाओंकी विस्तृत सूची दी हुई है। (दे० परिशिष्ट) इसमें व्याकरण, गणित और ज्योतिष भी हैं, गान, वाद्य और नृत्य भी हैं, तैरना, कूदना आदि व्यायाम भी हैं, लिपियों और भाषाओंका ज्ञान भी है, काव्य नाटक और इन्द्रजाल भी हैं और बढ़ई तथा सुनारके काम भी हैं। वात्स्यायनके कामसूत्रमें कुछ और ही प्रकारकी कला-क्रियाओंकी चर्चा है। बौद्ध ग्रन्थोंमें ८४ प्रकारकी कलाओंका उल्लेख है, और जैनग्रन्थोंमें ७२ प्रकारकी कलाओंका। कुछ ग्रन्थोंमें दी हुई सूचियाँ इस ग्रन्थके अन्तमें संकलित कर दी गई हैं।

परन्तु इन सूचियोंके देखनेसे ही यह स्पष्ट हो जायगा कि कलाकी संख्या कोई सीमित नहीं है। सभी प्रकारकी सुकुमार और बुद्धिमूलक क्रियाएँ कला कहलाती थीं। कलाके नामपर कभी कभी लोगोंसे ऐसा काम करनेको कहा गया है कि आश्चर्य होता है। एक अपेक्षाकृत परवर्ती ग्रन्थमें इस सम्बन्धमें एक मनोरंजक कहानी दी हुई है। काशीके राजा जयन्तचन्द्रकी एक खेली रानी सूहव देवी थी। कुछ दिनों तक उसका दरबारियोंपर निरंकुश शासन था। कहते हैं उसने एक बार श्री हर्ष कविसे पूछा कि तुम क्या हो? कविने जवाब दिया कि मैं 'कला-सर्वज्ञ' हूँ। रानीने कहा—अगर तुम सचमुच कला-सर्वज्ञ हो तो मेरे पैरोंमें जूता पहनाओ। मनस्वी ब्राह्मण कवि उस रानीको घृणाकी दृष्टि से देखता था, पर कलासर्वज्ञता तो दिखानी ही थी। दूसरे दिन चमारका वेश धारण करके कविने रानीको जूता पहनाया और फिरसे ब्राह्मण वेश धारण ही नहीं किया, बल्कि संन्यासी होकर गंगातटपर प्रस्थान किया! [प्रबन्ध-कोश पृ० ५७]

८—वात्स्यायनकी कलाएँ

ईसवी सन्के आसपास ऐतिहासिक जीवनको आनन्दमय बनानेवाले जो शास्त्र लिखे गए उनमें वात्स्यायनका कामसूत्र बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थसे पता चलता है कि बहुत पुराने जमानेसे ही इस विषयपर बहुत बड़ा साहित्य उपलब्ध था। कामसूत्रके आरंभमें ही लिखा है कि प्रजापतिने प्रजाओंको सृष्टि करके उनकी

स्थितिके लिए धर्म, अर्थ और काम नामक त्रिवर्गोंके साधनके लिये एक लाख अध्यायोंका कोई ग्रन्थ लिखा था। फिर प्रत्येक वर्गपर मनु, बृहस्पति और महादेवानुचर नंदीने अलग-अलग ग्रन्थ लिखे, नन्दीका ग्रन्थ एक सहस्र अध्यायोंका था। उसे औद्दालकि श्वेतकेतुने पाँचसौ अध्यायोंमें संक्षिप्त किया और उसे भी वाभ्रव्य पांचालने और छोटा करके डेढ़सौ अध्यायोंमें संक्षिप्त किया। इसमें सात अधिकरण थे—साधारण, सांप्रयोगिक, भार्याधिकारिक, पारदारिक, वैशिक और औपनिषदिक। इन सातोंको भिन्न-भिन्न आचार्योंने अलगसे संपादित किया। वात्स्यायनका ग्रंथ इनका सार है। इसमें नागरक-जनोंके जानने योग्य कलाओंकी सूची है, (परिशिष्टमें देखिए) और पांचालकी बताई हुई कलाएँ भी दी गई हैं।

वात्स्यायनकी गिनाई हुई कलाओंमें लगभग एक तिहाई तो विशुद्ध साहित्यिक हैं। बाकीमें कुछ नायक नायिकाओंकी विलास-क्रीड़ामें सहायक हैं, कुछ मनोविनोदके साधक हैं और कुछ ऐसी भी हैं जिन्हें दैनिक प्रयोजनोंका पूरक कहा जा सकता है। गाना, बजाना, नृत्य, चित्रकारी, प्रियाके कपोल और ललाटकी शोभा बढ़ा सकनेवाले भोजपत्रके काटे हुए पत्रोंकी रचना करना (विशेषकच्छेद्य), फर्शपर विविध रंगोंके पुष्पों और रंगे हुए चावलोंसे नाना प्रकारके नयनाभिराम चित्र बनाना (तंदुल-कुसुम-विकार), फूल बिछाना, दाँत और वस्त्रोंका रंगना, फूलोंकी सेज रचना, ग्रीष्मकालीन विहारके लिए मरकत आदि पत्थरोंका गज बनाना, जलक्रीड़ामें मुरज-मृदंग आदि बाजोंका बना लेना, कौशलपूर्वक प्रेयसीके प्रति पानीके छींटे फेंकना, माला गूँथना, केशोंको फूलोंसे सजाना, कानके लिए हाथी दाँतके पत्तरोंसे आभरण बनाना, सुगन्धित धूप-दीप और बत्तियोंका प्रयोग जानना, गहना पहनाना, इन्द्रजाल और हाथकी सफाई, चोली आदिका सीना, भोजन और शरबत आदि बनाना, कुशासन बनाना, वीणा-डमरू आदि बजा लेना इत्यादि कलाएँ उन दिनों सभी सभ्य व्यक्तियोंके लिये आवश्यक मानी जाती थीं। संस्कृत-साहित्यमें इन कलाओंका विपुल भावसे वर्णन है। किसी विलासिनीके कपोल-तलपर प्रियने सौभाग्य-मंजरी अंकित कर दी है, किसी प्रियाके कानोंमें आगंड-विलंबि-केसर वाला शिरीष-पुष्प पहनाया जा रहा है, कहीं विलासिनीके कपोल-देशकी चन्दन-पत्रलेखा कपोल-भित्तिपर कुसुम बाणोंके लगे घावपर पट्टीकी भाँति बँधी दिख रही है, कहीं प्रियाके कमल-कोमल पदतलपर वेपथु-विकंपित हाथोंकी बनी हुई अलक्तक-रेखा

टेढ़ी हो गई है, कहीं नागरकोंके द्वारा स्थंडिल-पीठिकाओंपर कुसुमास्तरण हो रहा है, कहीं जलक्रीड़ाके समय क्रीड़ा-दीर्घिकासे उत्थित मृदंग-ध्वनिने तीरस्थित मयूरोंको उत्कंठित कर दिया है। इस प्रकारके सैकड़ों कला-विलास उस युगके साहित्य में पदपदपर देखनेको मिल जाते हैं।

परवर्ती साहित्यमें और नागरिक-जीवनमें भी वात्स्यायनद्वारा निर्धारित कलाओंका बड़ा प्रभाव है। काव्य-नाटकोंके साहित्यमें मनुष्यकी भोगवृत्तिका जब प्रसंग आता है, तो वात्स्यायनकी कलाएँ और कामसूत्रीय विधान कविके प्रधान मार्गदर्शक हो जाते हैं। संसारके कम देशोंके काम-शास्त्रोंने काव्य-साहित्यको इतना प्रभावित किया होगा।

इन कलाओंमें कुछ उपयोगी कलाएँ भी हैं। उदाहरणार्थ, वास्तुविद्या या गृह-निर्माण-कला, रूप्य-रत्न-परीक्षा, धातु-विद्या, कीमती पत्थरोंका रंगना, वृक्षायुर्वेद या पेड़-पौधोंकी विद्या, हथियारोंकी पहिचान, हाथी-घोड़ोंके लक्षण इत्यादि। बराहमिहिरकी बृहत्संहितासे ऐसी बहुतेरी कलाओंकी जानकारी हो सकती है—जैसे वास्तुविद्या (५३ अध्याय), वृक्षायुर्वेद (५५ अ०), बज्रलेप (५७ अ०), कुक्कुट-लक्षण (६३ अ०), शय्यासन (७८ अ०), गन्धयुक्ति (७७ अ०), रत्नपरीक्षा (८०-८३ अ०) इत्यादि। कलाओंमें ऐसी भी बहुत हैं जिनका सम्बन्ध किसी मनोविनोद मात्रसे है—जैसे मेड़ों और मुर्गोंकी लड़ाई, तोतों और मैनोंका पढ़ाना आदि। संभ्रान्त परिवारोंके महलोंका एक हिस्सा भेड़े-मुर्गे, तीतर-बटेरके लिये होता था और अन्तःचतुःशालके भीतर तोता-मैना अवश्य रहा करते थे। हम आगे चल कर देखेंगे कि उन दिनों संभ्रान्त रईसके अतःपुरमें कोकिल, हंस, कारण्डव, चक्रवाक, सारस, मयूर और कुक्कुट बड़े शौकसे पोसे जाते थे। अन्तःपुरिकाओं और नागरकोंके मनोविनोदमें इन पक्षियोंका पूरा हाथ होता था।

६—नाट्य शास्त्र

सन् ईसवीके आरंभ होनेके एकाध शताब्दीके बादका लिखा हुआ एक और भी महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है, जिससे तत्कालीन सुसंस्कृत लोकरुचिका बहुत सुन्दर परिचय मिलता है। यह है भरतका नाट्य-शास्त्र। इसमें उन दिनोंके नाच, गान, बाजा, छन्द, अलंकार, वेश-भूषाका बहुत ही सुन्दर और प्रामाणिक विवरण मिलता है। यह ग्रंथ एक विशाल विश्वकोष है। इसके पूर्व अनेक नाट्य ग्रंथ और नाटक लिखे गये

होंगे और नृत्य, संगीत आदि सुकुमार विनोदोंकी बहुत पुरानी परंपरा रही होगी। क्योंकि नाट्यशास्त्रमें सैकड़ों ऐसी नाटकरूढ़ियाँ बताई गई हैं जो बिना दीर्घकालकी पुरंपराके बन ही नहीं सकतीं। बादमें इस ग्रंथके आधारपर नाट्य-लक्षण, दशरूपक आदि ग्रंथ लिखे गए, पर उनकी दृष्टि प्रधान रूपसे कवियोंको नाटक बनानेकी विधि बता देने तक ही सीमित थी। परन्तु भरतके नाट्य-शास्त्रकी दृष्टि बहुत व्यापक थी। वे केवल कवियोंके लिये नाटक तैयार करनेका फारमूला नहीं बता रहे थे, अभिनेताओंके लिये रंगमञ्चपर उतरनेका कौशल और अभिनयकी महिमा भी बताना चाहते थे और दर्शकोंको रस ग्रहण करनेका उपाय भी बताना उनका उद्देश्य था। इसलिये नाट्यशास्त्र नाना दृष्टियोंसे अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण ग्रंथ हो गया है। हमें इस ग्रंथसे बहुत सहायता मिलती है। अत्यन्त प्राचीन कालके तिमिराहत इतिहासमें यह ग्रंथ प्रदीपका कार्य करता है।

नाट्य-शास्त्र जैसे तैसे व्यक्तिको प्रेक्षक नहीं मानता। जो व्यक्ति नाटकका या नृत्यादिका अच्छा प्रेक्षक हो वह सब प्रकारसे सद्गुणशील हो तभी रस ठीक ठीक ग्रहण कर सकता है। वह शास्त्रोंका जानकार, नाटकके छः अंगोंका ज्ञाता, चार प्रकारके आतोद्य बाजोंका मर्मज्ञ, सब प्रकारके पहनावेका जानकार, नाना देशभाषाओंका पंडित, सब कलाओं और शिल्पमें विचक्षण, चतुर और अभिनय-मर्मज्ञ हो तो ठीक है। (२३-५१-५२) नाट्य-शास्त्र जानता है कि ऐसे मर्मज्ञ कम होते हैं और जब बड़े भारी समाजमें अभिनय किया जाता है तो मर्मज्ञोंका अनुपात बहुत अल्प होता है, पर आदर्श प्रेक्षक यही है। इस प्रेक्षकको नाना कलाओंकी शिक्षासे सुसंकृत करना पड़ता है। उसे नाट्यधर्मी और लोकधर्मी रीतियोंका अभ्यास करना पड़ता है। नाट्यशास्त्रने यह कर्तव्य भी सुन्दर ढंगसे निबाहा है।

१०—कलाओंकी प्राचीनता

यह तो नहीं कहा जा सकता कि कलाओंकी गणना बौद्ध-पूर्वकालमें प्रचलित ही थी, पर अनुमानसे निश्चय किया जा सकता है कि बुद्ध-काल और उसके पूर्व भी कला-मर्मज्ञता आवश्यक गुण मानी जाने लगी थी। ललितविस्तरमें केवल कुमार सिद्धार्थको सिखाई हुई पुरुष-कलाओंकी गणना ही नहीं है, चौंसठ काम-कलाओंका

भी उल्लेख है[1] और यह निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि बुद्ध-कालमें कलाएँ नागरिक जीवनका आवश्यक अंग हो गई थीं। प्राचीन ग्रन्थोंमें इनकी संख्या निश्चित नहीं है, पर ६४ की संख्या शायद अधिक प्रचलित थी। जैन ग्रंथोंमें ७२ कलाओंकी चर्चा है। पर बौद्ध और जैन दोनों ही संप्रदायोंमें ६४ कलाओंकी चर्चा भी मिल जाती है। जैनग्रन्थ इन्हें ६४ महिलागुण कहते हैं। कालिकापुराण एक अर्वाचीन उपपुराण है। सम्भवतः इसकी रचना विक्रमकी दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दीमें आसाम प्रदेशमें हुई थी। इस पुराणमें कलाकी उत्पत्तिके विषयमें यह कथा दी हुई है: ब्रह्माने पहले प्रजापति और मानसोत्पन्न ऋषियोंको उत्पन्न किया, फिर सन्ध्या नामक कन्याको उत्पन्न किया और तत्पश्चात् सुप्रसिद्ध मदन देवताको जिसे ऋषियोंने मन्मथ नाम दिया। ब्रह्माने मदन देवताको वर दिया कि तुम्हारे बाणोंके लक्ष्यसे कोई नहीं बच सकेगा। तुम अपनी इस त्रिभुवनविजयी शक्तिसे सृष्टि-रचनामें मेरी मदद करो। मदन देवताने इस वरदान और कर्तव्य-भारको शिरसा स्वीकार किया। प्रथम प्रयोग उसने ब्रह्मा और सन्ध्यापर ही किया। परिणाम यह हुआ कि ब्रह्मा और सन्ध्या प्रेम-पीड़ासे अधीर हो उठे। उन्हींके प्रथम समागमके समय ब्रह्माके ४९ भाव हुए तथा सन्ध्याके बिब्बोक आदि हाव तथा ६४ कलाएँ हुईं। कलाकी उत्पत्तिका यही इतिहास है। कालिकापुराणके अतिरिक्त किसी अन्य पुराणसे यह कथा समर्थित है कि नहीं, नहीं मालूम। परन्तु इतना स्पष्ट है कि कालिकापुराण ६४ कलाओंको महिलागुण ही मानता है।

श्रीयुत् ए० वेंकट सुब्बइयाने भिन्न-भिन्न ग्रन्थोंसे संग्रह करके कलाओंपर एक पुस्तिका प्रकाशित की है जो इस विषयके जिज्ञासुओंके बड़े कामकी है। उसकी सूचियों-को देखनेसे पता चलता है कि कला उन सब प्रकारकी जानकारियोंको कहते हैं जिनमें थोड़ी-सी चतुराईकी आवश्यकता हो। व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, न्याय, वैद्यक और राजनीति भी कला हैं; उचकना, कूदना, तलवार चलाना और घोड़ा-चढ़ना

---

१ चतुःषष्टि कामकलितानि चानुभविया।
नूपुरमेखला अभिहनी विगलितवसनाः॥
कामसराहतास्समदनाः प्रहसितवदनाः।
किन्तवार्यपुत्र विकृतिं यदि न भजसे॥
—ललितविस्तर (पृ० ४९७)

भी कला है; काव्य, नाटक, आख्यायिका, समस्यापूर्त्ति, बिंदुमती, प्रहेलिका भी कला है; स्त्रियोंका शृंगार करना, कपड़ा रंगना, चोली सीना, सेज बिछाना भी कला है; रत्न और मणियोंको पहचानना, घोड़ा, हाथी, पुरुष-स्त्री, छाग-मेष और कुक्कुटका लक्षण जानना, चिड़ियोंकी बोलीसे शुभाशुभका ज्ञान करना भी कला है और तित्तिर बटेरका लड़ाना, तोता-मैनाका पढ़ाना, जूआ खेलना भी कला है। पुराने ग्रन्थोंसे यह ज्ञान पड़ता है कि कलाएँ पुरुषोंके ही योग्य मानी जाती थीं यद्यपि कोई-कोई गणिका भी उक्त कलाओंमें पारंगत पाई जाती थी। ये गणित, दर्शन, युद्ध, घुड़सवारी आदिकी कलाएँ हैं। कुछ कलाएँ विशुद्ध कामशास्त्रीय हैं और हमारे विषयके साथ उनका दूरका ही सम्बन्ध है। सब मिलाकर यह ज्ञात होता है कि ६४ कोमल कलाएँ स्त्रियोंके सीखनेकी हैं; और चूँकि पुरुष भी उनकी जानकारी रखकर ही स्त्रियोंको आकृष्ट कर सकते हैं इसीलिये स्त्री-प्रसादनके लिये इन कलाओंका ज्ञान आवश्यक है। कामसूत्रमें पंचालकी कलाकी बात है वह कामशास्त्रीय ही है। परन्तु वात्स्यायनकी अपनी सूचीमें केवल कामशास्त्रीय कलाएँ ही नहीं हैं अन्यान्य सुकुमार जानकारियोंका भी स्थान है।

श्री वेंकट सुब्बइयाने भिन्न-भिन्न पुस्तकोंसे कलाओंकी दस सूचियाँ संग्रह की हैं। इनमें पंचाल और यशोधरकी कलाओंको छोड़ दिया जाय तो बाकीमें ऐसी कोई सूची नहीं है जिसमें काव्य, आख्यान, श्लोक-पाठ और समस्यापूर्ति आदिकी चर्चा न हो। वेंकट सुब्बइयाने जिन पुस्तकोंसे कलाओंकी सूची ग्रहण की है उनके अतिरिक्त भी बहुत-सी पुस्तकें हैं, जिनमें थोड़े-बहुत हेर-फेरके साथ ६४ कलाओंकी सूची दी हुई है।

ऐसा जान पड़ता है कि आगे चलकर कलाका अर्थ कौशल हो गया था और भिन्न-भिन्न ग्रन्थकार अपनी रुचि, वक्तव्य, वस्तु और संस्कारके अनुसार ६४ भेद कर लिया करते थे। सुप्रसिद्ध काश्मीरी पण्डित क्षेमेन्द्रने 'कलाविलास' नामकी एक छोटी-सी पुस्तक लिखी थी जो काव्यमाला सीरीज (प्रथम गुच्छ) में छप चुकी है। इस पुस्तकमें वेश्याओंकी ६४ कलाएँ हैं, जिनमें अधिकांश लोकाकर्षक और धनापहरणके कौशल हैं; कायस्थोंकी १६ कलाएँ जिनमें लिखनेके कौशलसे लोगोंको धोखा देना आदि बातें ही प्रमुख हैं; गानेवालोंकी अनेक प्रकारकी धनापहरणरूपी कलाएँ हैं; सोना चुरानेवाले सुनारोंकी ६४ कलाएँ हैं, गणकों या ज्योतिषियोंकी

बहुविध धूर्तताएँ हैं और अन्तिम अध्यायमें उन चौंसठ कलाओंकी गणना की गई है जिनकी जानकारी सहृदयको होनी चाहिए। इनमें धर्म-अर्थ-काम-मोक्षकी बत्तीस तथा मात्सर्य, शील, प्रभाव, मानकी बत्तीस कलाएँ हैं। १० भेषज कलाएँ वे हैं जो मनुष्यके भीतरी जीवनको नीरोग और निर्बाध बनाती हैं और सबके अन्तमें कला-कलापमें श्रेष्ठ सौ सार कलाओंकी चर्चा है। क्षेमेन्द्रकी गिनाई हुई इन कलाओंमें कहीं भी काव्य या समस्यापूर्तिको स्थान नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि अपने-अपने वक्तव्य विषयके कौशलको ६४ या ततोधिक भागोंमें विभक्त करके 'कला' नाम दे देना बादमें साधारण नियम हो गया था। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि कोई अनुश्रुति इस विषयमें थी ही नहीं। ६४ की संख्याका घूम-फिरकर आ जाना ही इस बातका सबूत है कि ६४ की अनुश्रुति अवश्य रही होगी। ७२ की अनुश्रुति जैन लोगोंमें प्रचलित है। साधारणतः ये पुरुषोचित कलाएँ हैं। ऐसा लगता है कि ६४ की संख्याके अन्दर प्राचीन अनुश्रुतिमें साधारणतः वे ही कलाएँ रही होंगी जो वात्स्यायनकी सूचीमें हैं। कलाका साधारण अर्थ उसमें स्त्री-प्रसादन और वशीकरण हैं और उद्देश्य विनोद और रसानुभूति है।

११—कलाओंके आश्रयदाता रईस

आजके यांत्रिक युगमें विलासिता सस्ती हो गई है। पुराने जमानेमें ऐसी बात नहीं थी। प्राचीन भारतका रईस विद्या और कलाके पीछे मुक्तहस्तसे धन लुटाता था। क्योंकि वह जानता था कि धनके दो ही उपयोग हैं—दान और भोग। यदि दान और भोगके बिना भी कोई अपनेको अपनी अपार सम्पत्तिके कारण धनी माने तो भला दरिद्र ही क्यों न उस संपत्तिसे अपनेको सम्पत्तिवान् मान ले?—

दानभोगविहीनेन धनेन धनिनो यदि।
तेनैव धनजातेन कथं न धनिनो वयम्॥

आजकल भी, और उन दिनों भी, दान-भोगके अतिरिक्त संपत्ति एक तीसरी वस्तु देती है—शक्ति और सम्मान। उन दिनों भी रईस समाजका सम्मानभाजन होता था; परन्तु उन दिनों साधुकर्म और तपोमय जीवनका सम्मान भी कम नहीं था बल्कि उपलब्ध प्रमाणोंके बलपर कहा जा सकता है कि उसका सम्मान अधिक

था। फिर भी रईस काफी सम्मान पाता था। वह केवल अपने अपार धनका कृपण भोक्ता मात्र नहीं था बल्कि अपने प्रत्येक आचरणसे शिल्पियों और सेवकों-की एक बड़ी जमातको धन बाँटता रहता था। सुबहसे शामतक वह किसी-न-किसी शिल्पको अपनी विलासितासे पोषण देता रहता था। उसके उठने-बैठनेसे लेकर चलने-फिरनेतकमें आभिजात्य था। पुराना भारतीय नागरक सुबह ब्राह्ममुहूर्तमें उठ जाता था और उसके उठनेके साथ ही शिल्पियों और सेवकोंका दल कार्यव्यस्त हो जाता था। उसके मामूली-से-मामूली आचरणसे भी आभिजात्यकी महिमा व्यंजित होती थी। उसके छोटे-से-छोटे आचरणके लिये भी प्राचीन ग्रंथोंमें विस्तृत उल्लेख मिलता है। आगे रईसके कुछ दैनिक कृत्योंका आभास दिया जा रहा है, जिससे उसकी कला-पोषकताका अनुमान किया जा सके।

१२—मुख-प्रक्षालन और दातून

प्रातःकाल उठकर आवश्यक मुख-प्रक्षालनादिसे निवृत्त होकर वह सबसे पहले दातूनसे दाँत साफ करता था (कामसूत्र पृ० ४५)। परन्तु उसकी दातून पेड़से ताजी तोड़ी हुई मामूली दातून नहीं होती थी, वह औषधियों और सुगन्धित द्रव्योंसे सुवासित हुआ करती थी। कम-से-कम एक सप्ताह पहलेसे उसे सुवासित करनेकी प्रक्रिया जारी हो जाती थी। बृहत्संहितामें (७७-३१-३४) यह विधि विस्तारपूर्वक बताई गई है। गोमूत्रमें हर्रेका चूर्ण मिला दिया जाता था और दातून उसमें एक सप्ताह तक छोड़ रखी जाती थी। उसके बाद इलायची, दालचीनी, तेजपात, अंजन, मधु और मरिचसे सुगन्धित किए हुए पानीमें उसे डुबा दिया जाता था (बृ० सं० ७७-३१-३२)। विश्वास किया जाता था कि यह दन्त-काष्ठ स्वास्थ्य और मांगल्यका दाता होता है। इस दातूनको तैयार करनेके लिये प्राचीन नागरक (रईस) के सुगन्धकारी भृत्य नियमित रूपसे रहा करते थे।

साधारणतः यह समझना कठिन ही है कि दाँत साफ करनेके लिये इतनी घटाकी क्या आवश्यकता है? बराहमिहिरने कुछ संकेत किया है। दातून अगर विधिपूर्वक बनी हो तो मुँहका रंग निखार देती है, कान्ति बढ़ा देती है, सुगंधि ला देती है और वाणीको ऐसी बना देती है जो सुननेवालोंके कानको सुख देती है—

वर्णप्रसादं वदनस्य कान्तिं वैशद्यमास्यस्य सुगन्धितां च ।
संसेवितुः श्रोत्रसुखां च वाचां कुर्वन्ति काष्ठान्यसकृद्भवानाम् ।

सो, उन दिनों दातून केवल शरीरके स्वास्थ्य और स्वच्छताके लिये ही आवश्यक नहीं समझी जाती थी, मांगल्य भी मानी जाती थी। इस बातका बड़ा विचार था कि किस पेड़की दातून किस तिथिको व्यवहार की जानी चाहिए। पुस्तकोंमें इस बातका भी उल्लेख मिलता है कि किस-किस तिथिको दातूनका प्रयोग एकदम करना ही नहीं चाहिए। सो नागरककी दातून कोई मामूली बात नहीं थी। उसके लिये पुरोहितसे लेकर गृहकी चेरी तक चिन्तित हुआ करती थी।

१३—अनुलेपन

दातूनकी क्रियाके समाप्त होते ही सुशिक्षित भृत्य अनुलेपनका पात्र लेकर उपस्थित होता था। अनुलेपनमें विविध प्रकारके द्रव्य हुआ करते थे। कस्तूरी, अगरु, केसर आदिके साथ दूधकी मलाईके मिश्रणसे ऐसा उपलेपन तैयार किया जाता था जिसकी सुगन्धि देरतक भी रहती थी और शरीरकी चमड़ीको क़ोमल और स्निग्ध भी बनाती थी। थेरगाथा, संयुक्त-निकाय और अंगुत्तर-निकायकी अट्ठ-कथाओंमें पिल्लीनामक ग्रामके निवासी एक अत्यन्त धनी ब्राह्मणकी कथा आती है। उस ब्राह्मणके पुत्र माणवकके लिये शरीरमें उबटन लगानेका जौ-चूर्ण नित्य तैयार होता था, उसका वजन मगधमें प्रचलित नाली नामक मापसे १२ नाली हुआ करता था। आधुनिक वज़नसे यह क़रीब दस सेर होना चाहिए। इसमें थोड़ी अत्युक्ति भी हो तो अनुलेपन द्रव्यकी मात्राका अन्दाज तो लग ही जाता है।

परन्तु कामसूत्रकी गवाहीसे हम अनुमान कर सकते हैं कि चन्दनका अनु-लेपन ही अधिक पसंद किया जाता था। इस अनुलेपनको उचित मात्रामें लगाना भी एक सुकुमार-कला मानी जाती थी। जयमंगला टीकामें बताया गया है कि जैसे-तैसे पोत लेना भद्दी रुचिका परिचायक है, इसलिये अनुलेपन उचित मात्रामें होना चाहिए।

१४—केश-संस्कार

अनुलेपनके बाद धूपसे बालोंको धूपित करनेकी क्रिया शुरू होती थी। स्त्रियों-

में यह क्रिया अधिक प्रचलित थी, पर विलासी नागरक भी अपने केशोंकी कम परवाह नहीं किया करते थे। केशोंके शुक्ल हो जानेकी आशंका बराबर बनी रहती थी और बराहमिहिराचार्यने ठीक ही कहा है कि जितनी भी माला पहनो, वस्त्र धारण करो, गहनोंसे अपनेको अलंकृत कर लो, पर अगर तुम्हारे केशोंमें सफेदी है तो ये कुछ भी अच्छे नहीं लगेंगे, इसलिये मूर्धजों (केशों) की सेवामें चूकना ठीक नहीं है (वृ० सं० ७७-१)। सो साधारणतः उस शुक्लतारूपी भद्दी वस्तुको आने ही न देनेके लिये और उसे देरतक सुगन्धित बनाए रखनेके लिये केशोंको धूपित किया जाता था। परन्तु यह शुक्लता कभी-कभी हजार बाधा देनेपर आ धमकती थी और नागरकको प्रयत्न करना पड़ता था कि आनेपर भी वह लोगोंकी नजरोंमें न पड़े। केशों या मूर्धजोंमें धूप देनेके कितने ही नुस्खे पाए जाते हैं। किसी-से कपूरकी गन्ध, किसीसे कस्तूरीकी सुवास, और किसीसे अगुरुकी खुशबू उत्पन्न की जाती थी।

पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंके केश अधिक सुगन्धित बनाए जाते थे। ग्रीष्मकालमें तो सुगन्धित तेल या स्नानके समय व्यवहार किए जाने वाले कषाय-कल्कसे यह कार्य हो जाता था किन्तु जाड़ेके दिनोंमें धूपित करके सुगन्ध लाई जाती थी। कालिदासने ग्रीष्म-ऋतुमें 'स्नान-कषाय-वासित' केशोंका उल्लेख किया है और वर्षाकालमें पुष्पावतंस या फूलोंके गुच्छोंसे ही सुन्दरियोंके केशोंका सुगन्धित होना बताया गया है (ऋतु० २-२२)। शरत्कालमें भी धूपित केशोंकी बात उन्होंने नहीं बताई। उस समय 'नितान्त-घननीलविकुञ्चिताग्र' केशोंमें—घुंघराली काली लटोंमें—नव-मालतीकी मनोहर माला पर्याप्त समझी जाती थी (ऋतु० ३-१६) किन्तु शिशिर और हेमन्तमें काले अगरुका धूप देकर केशोंको सुगन्धित किया जाता था (ऋतु० ४-५, ५-१२,)। इस प्रकार हर ऋतुमें केशोंको सुगन्धियुक्त बनानेका विधान था। वसन्तमें इतने झमेलेकी जरूरत नहीं महसूस की जाती होगी। उस पुष्प-सौरभसे समृद्ध ऋतुमें सुगन्धि बहुत यत्नसाध्य नहीं होती। ऐसा कोई भी पुष्प चुन लिया जाता था जो सुन्दरियोंके चंचल नील अलकोंके साथ ताल मिला सके। अशोकके लाल-लाल स्तबक या नवमल्लिकाकी माला उत्तम अलंकरण माने जाते थे, कर्णिकारके सुनहरे फूल भी कानोंमें शोभित हो रहे हों तो फिर क्या कहना है ! कालिदास इस मनोहर अलंकरणका महत्त्व समझते थे :

कर्णेषु योग्यं नवकर्णिकारं चलेषु नीलेष्वलकेष्वशोकम् ।

पुष्पं च फुल्लं नवमल्लिकायाः प्रयान्ति कान्तिं प्रमदाजनानाम् ॥

(ऋतु० ६-६)

सुगन्धि प्राचीन भारतका केवल विलास नहीं था, वह उसका जीवनांग था। देवमन्दिरसे लेकर सुहाग-सेजतक उसका अबाध प्रवेश था। धूप-धूम सर्वत्र सुगंधि लानेके साधन थे। कपड़े भी इन धूपोंसे धुपे जाते थे। वस्तुतः भारतके प्राचीन रईस—क्या पुरुष और क्या स्त्री—जितना सुगन्धिसे प्रेम करते थे उतना और किसी भी वस्तुसे नहीं। और केशोंके लिये तो सुगन्धित तेलकी भी विधियाँ बताई गई हैं। साधारणतः केशोंको पहले धूपित करके कुछ देरतक उन्हें छोड़ दिया जाता था और फिर स्नान करके सुगंधित तैल व्यवहार किया जाता था।

(बृ० सं० ७७-११)

केश रखनेके अनेक प्रकार थे। बौद्ध-जैन आदि साधुओंके सिर मुंडित हुआ करते थे। पर विलासी लोग सुन्दर केश-रचना किया करते थे। नाट्य-शास्त्रमें केश-रचनाके सिलसिलेमें (२३-१४७) बताया गया है, राज-पुरुषोंके, वधुओंके और शृंगारी पुरुषोंके केश कुञ्चित होने चाहिए। केशोंको बड़े यत्नसे कुञ्चित बनाया जाता था।

छुरेका व्यवहार इस देशमें बहुत ज़मानेसे होता रहा है। दाढ़ी रखनेके विविध रूप थे। नाट्य-शास्त्रमें चार प्रकारकी दाढ़ियोंका उल्लेख है। शुक्ल, श्याम, विचित्र और रोमश। किसी-किसी प्रतिमें शुक्लके स्थानमें 'शुद्ध' पाठ है। शुक्लका अर्थ स्वच्छ शुभ्र वृद्धजनोचित दाढ़ी हो सकता है। पर 'शुद्ध' पाठ हो तो उसका अर्थ साफ, रोमविहीन 'क्लीनशेव्ड' किया जा सकता है। वस्तुतः चौखंभावाले नाट्य-शास्त्र-में भी आगे चलकर 'शुद्ध' पाठ ही स्वीकृत किया गया है और बताया गया है कि संन्यासियों, मंत्रियों, पुरोहितों तथा मध्यमवित्त व्यक्तियोंकी दाढ़ी 'शुद्ध' होनी चाहिए। शुद्ध अर्थात् साफ बनी हुई। चित्रों और मूर्तियोंमें इस श्रेणीके लोगोंकी ऐसी ही दाढ़ी मिलती भी है। श्याम दाढ़ी कुमारोंकी होती थी और विचित्र दाढ़ियोंकी बनावट नाना प्रकारकी होती थी। राजा लोग, शौकीन (शृङ्गारी) नागरिक लोग और जवान राजपुरुष चित्रविचित्र दाढ़ी रखते थे। 'रोमश' दाढ़ी उसे कहते हैं जो अपने आप उगकर असंस्कृत पड़ी हो। शकुन्तला नाटकमें जिन तपस्वियोंको राजाने देखा था उनकी ऐसी ही दाढ़ियाँ थीं। जब राजाने शकुन्तलाके चित्रमें इन ताप-सोंको अंकित करना चाहा तो विदूषकको आशंका हुई थी कि यह सुंदर चित्र अब

झाड़नुमा दाढ़ियोंसे भर जायगा। बालोंकी सेवा हो जानेके बाद नागरिक माला धारण करता था। माला चम्पा, जूही, मालती आदि विविध पुष्पोंकी होती थी। इसकी चर्चा अन्यत्र भी की जायगी।

१५—अधर और नाखूनकी रँगाई

वात्स्यायनके कामसूत्रमें मोम और अलक्तक धारण करनेकी क्रियाका उल्लेख है। किसी-किसीका अनुमान है कि अधरोंको अलक्तक (लाखसे बना हुआ लाल रंगका महावर) से लाल किया जाता होगा, जैसा कि आधुनिक कालमें लिपस्टिकसे स्त्रियाँ रँगा करती हैं और फिर उन्हें चिक्कन करनेके लिये उनपर सिक्थक या मोम रगड़ दिया जाता होगा। मुझे अन्य किसी मूलसे इस अनुमानका पोषक प्रमाण नहीं मिला है। पर यदि अनुमान ही करना हो तो नखोंके रँगनेका भी अनुमान किया जा सकता है। वस्तुतः प्राचीन भारतके विलासीका नखोंपर इतना मोह था कि इस युग-में न तो हम उसकी मात्राका अन्दाज लगा सकते हैं और न कारण ही समझ सकते हैं। नखोंके काटनेकी कलाकी चर्चा प्रायः आती है। वे त्रिकोण, चन्द्राकार, दन्तुल तथा अन्य अनेक प्रकारकी आकृतियोंके होते थे। गौड़के लोग बड़े-बड़े नखोंको पसन्द करते थे, दाक्षिणात्यवाले छोटे नखोंको और उत्तरापथके नागर रसिक, न बहुत बड़े न बहुत छोटे, मझोले नखोंकी कदर करते थे। जो हो, सिक्थक और अलक्तकके प्रयोगके बाद नागरिक दर्पणमें अपना मुख देखता था। सोने या चाँदीकी समतल पट्टी-को घिसकर खूब चिकना किया जाता था। उससे ही आदर्श या दर्पणका काम लिया जाता था। दर्पणमें मुख देखनेके बाद जब वह अपने बनाव-सिंगारसे सन्तुष्ट हो लेता था तो सुगन्धित ताम्बूल ग्रहण करता था।

१६—ताम्बूल-सेवन

ताम्बूल प्राचीन भारतका बहुत उत्तम प्रसाधन था। वह पूजा और शृङ्गार दोनों कामोंमें समान रूपसे व्यवहृत होता था। ऐसा जान पड़ता है कि आर्य लोग इस देशमें आनेके पहले ताम्बूल (पान) का प्रयोग नहीं जानते थे। उन्होंने नाग जाति-से इसका व्यवहार सीखा था। अब भी संस्कृतमें इसे नागवल्ली कहते हैं। राजशे-

श्वर सूरिके प्रबन्ध-कोषमें एक मजेदार कहानी दी है जिसके अनुसार पातालके राजा वासुकि नागने भूलोकके राजा उदयनको अपनी कन्या ब्याही थी और दहेजमें चार अद्भुत रत्न दिए थे—सवत्सा कामधेनु, विशिष्ट नागवल्ली, (पान), सोपधान सतूलिका शय्या और रत्नोद्योत प्रदीप। तबसे नाग लोगोंकी दुलारी बल्लरीके पत्ते (पर्ण-पण्ण-पान) भारतीय अन्तःपुरोंसे लेकर सभागृहोंतक और राजसभासे लेकर आपानकोंतक समान रूपसे आदर पा सके। किसी कविने ठीक ही कहा है कि वल्लियाँ तो दुनियामें हजारों हैं, वे परोपकार भी कम नहीं करतीं पर, सबको छापकर विराजमान है एकमात्र नाग-जातिकी दुलारी वल्ली ताम्बूल-लता, जो नागरिकाओंके वदन-चन्द्रोंको अलंकृत करती है—

> किं वीरुधो भुवि न सन्ति सहस्रशोऽन्यः
> यासां दलानि न परोपकृतिं भजन्ते।
> एकैव वल्लिषु विराजति नागवल्ली,
> या नागरीवदनचन्द्रमलंकरोति ॥

इस ताम्बूलके बीटक (बीड़ा)का सजाना बहुत बड़ी कला माना जाता था। उसमें नानाभावसे सुगन्धि ले आनेकी चेष्टा की जाती थी। पानका बीड़ा नाना-मंगलों और सौभाग्योंका कारण माना जाता था। वराहमिहिरने कहा है कि उससे वर्णकी प्रसन्नता आती है, मुखमें कान्ति और सुगन्धि आती है, वाणीमें मधुरिमाका संचार होता है; वह अनुरागको प्रदीप्त करता है, रूपको निखार देता है, सौभाग्यको आवाहन करता है, वस्त्रोंको सुगन्धित बनाता है और कफजन्य रोगोंको

---

१. मेरे मित्र प्रो० प्रह्लाद प्रधानने अनेक प्राचीन ग्रन्थोंसे और बरई-जातिमें पाए जानेवाले प्रवादोंसे मेरे इस अनुमानका समर्थन किया है कि पान नाग-जाति-की देन है। उन्होंने कथासरित्सागर (२-१-८०-८१), बृहत्कथा-श्लोकसंग्रह (६-१२) से भी उदयनको नागोंसे इस लताके प्राप्त करनेकी कथाओंको संग्रह किया है। कहीं यह बताया गया है कि नागवल्ली यौतुकमें प्राप्त हुई, कहीं यह बताया गया है कि वह प्रत्युपकारमें प्राप्त हुई, कहीं पाण्डवोंके अश्व-मेध यज्ञके लिये इसे मँगाया जाना बताया गया है, पर सर्वत्र नागोंसे इसके प्राप्त होनेका समर्थन होता है (विश्वभारती पत्रिका, खण्ड ४, पृष्ठ १६४-१६५)।

दूर करता है (बृ० सं० ७७-३४-३५)। इसलिये इस सर्वगुणयुक्त शृङ्गार-साधनके लिये सावधानी और निपुणता बड़ी आवश्यक है। सुपारी, चूना और खैर ये पानके आवश्यक उपादान हैं। इन प्रत्येकको विविध भाँतिसे सुगन्धित बनानेकी विधियाँ पोथियोंमें लिखी हैं। पर इनकी मात्रा कला-मर्मज्ञको ही मालूम होती है। खैर ज़्यादा हो जाय तो लालिमा ज्यादा होकर भद्दी हो जाती है, सुपारी अधिक हो जाय तो लालिमा क्षीण होकर अशोभन हो उठती है, चूना अधिक हो जाय तो मुखका गन्ध भी बिगड़ जाता है और क्षत हो जानेकी भी सम्भावना है, परन्तु पत्ते अधिक हों तो सुगन्धि बिखर जाती है। सो, प्राचीन भारतका नागरिक ताम्बूलका महत्त्व जानता था और मानता था। सुन्दरियाँ इसके गौरवकी कायल थीं। और सच पूछिए तो, जैसा माघ कविने कहा है, स्वच्छ जलसे धुले अंग, ताम्बूलद्युतिसे जग-मगाते होंठ और महीन निर्मल हल्की-सी साड़ी—यही तो विलासिनियोंका वास्तविक शृंगार है। माघ कविने एक टेढ़ी शर्त अवश्य लगा दी है। लेकिन खैर—

स्वच्छाम्भःस्नपनविधौतमङ्गमोष्ठस्ताम्बूलद्युतिविशदो विलासिनीनाम्।
वासस्तु प्रतनुविविक्तमस्त्वितीयान् आकल्पो यदि कुसुमेषुणा न शून्यः॥

कहना बेकार है कि इतना महत्त्वपूर्ण और फिर भी इतना सुकुमार प्रसाधन सावधानी चाहेगा, इसलिये इनकी मात्राका निर्णय होशियारीसे होना चाहिए। रातको पत्ते अधिक देने चाहिए और दिनको सुपारी (बृ० सं० ७७-३६-३७)। सो प्राचीन भारतका नागरक पानके बीड़ेके विषयमें बहुत सावधान हुआ करता था। कामसूत्रकी गवाहीसे हम कह सकते हैं कि पान खानेवाले रईस और राजाके घरमें पीकदान या पतद्ग्रह जरूर हुआ करते थे। इसके बिना पानकी रसिकता केवल कुरुचिपूर्ण गन्दगी ही उत्पन्न करती है। कामसूत्र (१४-८-९) में इसीलिए नागरककी शय्याके पास एक पतद्ग्रहकी व्यवस्था की गई है। राजाओं और रईसोंकी कन्याएँ जब पतिगृह जाती थीं तो उन्हें वस्तुओंके साथ सुन्दर पीकदान भी दिया जाता था। नैषध (१६-२७) में बताया गया है कि राजा भीमने अपने जामाताको सुन्दर मणिखचित पीकदान दहेजमें दिया था। परन्तु अगर पीकदान नहीं हुआ और पानका लाल-लाल रस कहीं उगलना ही पड़ा तो नागरक उसमें भी सावधान होता था। कभी-कभी तो पान थूकनेके कौशलका भी उल्लेख मिलता है। दशकुमारचरितमें लिखा है कि किस प्रकार राजकुमार नागदत्तने राजकन्या अंबालिकाके घर चोरी-चोरी पहुँचकर उस सोई हुई

कन्याका और अपना चित्र भी बनाया था और सफेद दीवारपर इस सफाईसे पीक फेंकी थी कि उससे चक्रवाकके जोड़े बन गए थे। पानके डिब्बेके लिये संस्कृतमें दो शब्द आते हैं—करङ्क और स्थगिका। संस्कृतके कथा—आख्यायिका, काव्य-नाटक, साहित्यमें ताम्बूल-करङ्क-वाहिनी स्त्रियोंका बहुत उल्लेख है। कादम्बरीमें चन्द्रापीड़की करङ्क-वाहिनी पत्रलेखाका वर्णन कविने प्राण ढालके किया है। करङ्क सोने-चाँदीके बनते थे और मणिखचित होते थे। ताम्बूल-सेवनके बाद पुराना रईस उत्तरीय सँभालता था और अपने कार्यमें जुट जाता था। वह कार्य व्यापार भी हो सकता है, राज-शासन भी हो सकता है और मंत्रणादिक भी हो सकता है।

१७-रईसकी जाति

समृद्ध रईस ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्योंमेंसे ही हुआ करते थे। परन्तु शूद्रोंका उल्लेख न मिलनेसे यह नहीं समझना चाहिए कि शूद्र लोग समृद्ध कभी होते ही नहीं थे। सच्ची बात यह है कि समृद्ध लोग शूद्र नहीं हुआ करते थे। समृद्ध होनेके बाद लोग या तो ब्राह्मण या वैश्य—अधिकतर वैश्य—सेठ हो जाया करते थे, या क्षत्रिय सामन्त। उन दिनों भारतवर्षका व्यापार बहुत समृद्ध था और ब्राह्मण और क्षत्रिय भी सेठ हुआ करते थे। मृच्छकटिकका सेठ नागरक चारुदत्त ब्राह्मण था। यह धारणा गलत है कि ब्राह्मण सदासे यजन-याजनका ही काम करते थे। वस्तुतः यह बात ठीक नहीं है। मृच्छकटिक नाटकमें चार ब्राह्मण पात्र हैं। चारुदत्त श्रेष्ठिचत्वरमें बास करता है, सकल कलाओंका समादरकर्त्ता सुपुरुष नागर है, विदेशमें समुद्र पार उसके धन-रत्नसे पूर्ण जहाज भेजे जाते हैं, दरिद्र हो जानेपर भी वह नगरके प्रत्येक स्त्री-पुरुषका श्रद्धा-भाजन है और अत्यन्त उदार और गुणान्वित है। दूसरा ब्राह्मण एक विट है जो राजाके मूर्ख सालेकी खुशामदपर जीता है, गणि-काओंका सम्मान भी करता है और उन्हें प्रसन्न भी रखता है, पण्डित भी है और कामुक भी है। तीसरा ब्राह्मण विदूषक है जिसे संस्कृत बोलनेका भी अभ्यास नहीं है और चौथा ब्राह्मण शार्विलक है जो पंडित भी है, चोर भी है और वेश्या-प्रेमी भी है। चोरी करना भी एक कला है, एक शास्त्र है, शार्विलकने उसका अच्छा अध्ययन किया था। कैसे सेंध मारना होता है, दीपक बुझा देनेके लिये कीटको कैसे उड़ाया जाता है, दरवाजेपर पानी छिड़कके उसे कैसे निःशब्द खोला जा सकता है, यह सारी

बातें उसने सीखी थीं। ब्राह्मणके जनेऊका जो गुण वर्णन इस चोर पंडितने किया वह उपभोग्य भी है और सीखने लायक भी! इस यज्ञोपवीतसे भीतमें सेंध मारनेकी जगह पाई जा सकती है, इसके सहारे स्त्रियोंके गले आदिमें गँसी हुई भूषणावली खींच ली जा सकती है, जो कपाट यंत्रसे दृढ़ होता है—ताला लगाकर न खुलने योग्य बना दिया गया होता है,—उसका यह उद्‌घाटक बन जाता है और साँप गोजरके काट खानेपर कटे हुए घावको बाँधनेका काम भी वह दे जाता है :—

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्गम्,
एतेन मोचयति भूषणसंप्रयोगान्।
उद्‌घाटको भवति यन्त्रदृढ़े कपाटे,
दष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनं च॥

(मृ० ३-१७)

इस प्रकार ब्राह्मण उन दिनों सेठ भी होते थे, विट और विदूषक भी होते थे और शार्विलकके समान धर्मात्मा चोर भी! धर्मात्मा इसलिए कि शार्विलक चोरी करते समय भी नीति अनीतिका ध्यान रखता था, स्त्रियोंपर हाथ नहीं उठाता था, बच्चोंको चुराकर उनके गहने नहीं छीन लेता था, कमजोर और गरीब नागरके घरमें सेंध नहीं मारता था, ब्राह्मणका धन और यज्ञके निमित्त सोनेपर लोभ नहीं रखता था और इस प्रकार चोरी करते समय भी उसकी मति कार्याकार्यका विचार रखती थी! (मृ० ४-६)

धनाढ्य ब्राह्मणोंकी बात केवल मृच्छकटिकके कालमें ही मिलती हो सो बात नहीं है। बौद्ध-कथाओंमें भी ऐसी बातें मिलती हैं जिनसे पता चलता है कि बुद्धके कालमें भी समृद्ध ब्राह्मण विद्यमान थे। अट्ठकथाओंमें मगधके पिल्ली नामक ग्रामके महातित्थ (महातीर्थ) ब्राह्मणकी अपार संपत्तिकी बात लिखी है। 'तालेके भीतर साठ बड़े चहबच्चे (तड़ाक), बारह योजन तक फैले खेत, अनुराधपुर जैसे चौदह दासोंके गाँव, चौदह हाथियोंके झुण्ड, चौदह घोड़ोंके झुण्ड, चौदह रथोंके झुण्ड थे।' उसके पुत्र माणवकने (जो किसी बहाने विवाह नहीं करना चाहता था) एक सहस्र सोनेके मोहर लगाकर सुनारसे एक सुन्दर स्त्री-मूर्ति बनवाई थी और मातासे कहा था कि यदि ऐसी बहू मिले तो मैं विवाह करूँ। शायद उसे विश्वास था कि किसी ब्राह्मणके घर ऐसी सुन्दरी मिलना संभव नहीं होगा। पर यह विश्वास गलत सिद्ध हुआ। मद्र देशमें ऐसी ही सुन्दरी मिल गई जो उस "स्वर्ण-प्रतिमासे

सौगुना, हजारगुना, लाखगुना, अधिक सुन्दरी थी और बारह हाथके घरमें बैठी रहनेपर ही दीपकका काम नहीं; जिसकी शारीरिकी प्रभासे ही अन्धकार दूर हो जाता था।" अत्युक्ति कुछ अवश्य है पर समृद्ध ब्राह्मण होते थे इसमें संदेह नहीं। (बुद्ध-चर्या पृ० ४१-४२)

१८—रईस और राजा

कभी-कभी रईसोंका विलास समसामयिक राजाओंसे भी बढ़कर होता था, इस बातके प्रमाण मिल जाते हैं। राजाओंको युद्ध, विग्रह, राज्य-संचालन आदि अनेक कठोर कर्म भी करने पड़ते थे, पर सुराज्यसे सुरक्षित समृद्धिशाली नागरिकोंको इन झंझटोंसे कोई सरोकार नहीं था। वे धन और यौवनका सुख निश्चिन्त होकर भोगते थे। एक अपेक्षाकृत परवर्ती जैन-प्रबंधमें राजा भोज और माघ कविकी बड़ी ही मनोरंजक कहानी दी हुई है। कहानीकी ऐतिहासिकता तो निश्चितरूपसे कमजोर भित्तिपर है पर इससे राजाओं और रईसोंकी विलासिताको एक मनोरंजक झलक मिल जाती है। इस दृष्टिसे ही इस कहानीका महत्त्व है। कहानी यों है कि एकबार दत्त ब्राह्मणके पुत्र माघ कवि महाराज भोजके घर अतिथि होकर गए। राजाने कवि-का सम्मान करनेमें कोई बात उठा न रखी, पर कविको न तो स्नानमें ही सुख मिला और न भोजनमें ही न शयनमें ही। महाराज भोजने आश्चर्यके साथ सोचा कि न जाने यह अपने घर कैसे रहता है। कविके निमंत्रणपर महाराज भोजने भी एक दिन कविके घर जानेका निश्चय किया। दूसरे वर्ष शीत ऋतुमें बड़ा भारी लाव-लश्कर लेकर महाराज कविके श्रीमालपुर नामक ग्राममें उपस्थित हुए। कविके विशाल प्रासादको देखकर राजा आश्चर्यचकित रह गए। मकान देखनेके लिये प्रासादके भीतर प्रविष्ट हुए। स्थान-स्थानपर विचित्र कौतुक देखते हुए एक ऐसे स्थानपर आए जहाँ बहुत-सी धूपकी घटियाँ सुगन्धित धूप उद्‌गिरण कर रही थीं, कुट्टिम भूमि सुगन्धित परिमलसे गमक रही थी; राजाने पूछा—पंडित, यह क्या आपका पूजागृह है? पंडितने ईषत् लज्जित होकर जवाब दिया,—महाराज आगे बढ़ें, यह स्थान पवित्र संचारका नहीं है। राजा लज्जित हो रहे। स्नानके पूर्व मर्दनिक भृत्योंने इस सुकुमार भंगीसे मर्दन किया कि राजा प्रसन्न हो गए। सोनेके स्नानपीठ-पर बड़े आडंबरके साथ राजाको स्नान कराया गया। नाककी साँससे उड़ जाने योग्य

वस्त्र राजाको दिए गए। सोनेके थालमें, जो ३२ कच्चोलकों (कटोरों) से परिवृत था, क्षीरका बना पक्वान्न, क्षीर-तन्दुलका कूर, उसीके बड़े और अन्य नाना भाँतिके व्यंजन भोजनके लिये दिए गए। अब राजाको समझ पड़ा कि जो ऐसी रसोई खाता है उसे मेरी रसोई कैसे अच्छी लग सकती थी। भोजनके पश्चात् पंच-सुगन्धि नाम ताम्बूल सेवन करके राजा पलंगपर लेटे। यद्यपि शीतऋतुका समय था, पर पंडितके गृहमें कुछ ऐसी व्यवस्था थी कि राजा चन्दनलिप्त होकर रातको बड़े आनन्दसे मीठी-मीठी व्यजन-वीजित वायुका सेवन करते हुए निद्रित हुए। वे भूल ही गए कि मौसम सर्दीका है। (पुरातन प्रबन्ध, पृ० १७) इस कहानीसे यह अनुमान सहज होता है कि उन दिनों ऐसे रईस थे जिनका विलास समसामयिक राजाओंके लिये भी आश्चर्यका विषय था।

१६—ब्राह्मणका कलासे संबंध

भारतवर्षके सबसे प्राचीन उपलब्ध सहित्यमें ही ब्राह्मण और विद्याका सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ पाया जाता है। जाति-व्यवस्था जैसी इस समय है वैसी ही बहुत प्राचीन कालमें ही नहीं रही होगी; परन्तु ब्राह्मण बहुत कुछ एक जातिके रूपमें ही रहा होगा, इसका प्रमाण पुराने साहित्यसे ही मिल पाता है। ऐसा जान पड़ता है कि पुराने जमानेसे ही भारतवर्षमें विद्या और कलाके दो अलग-अलग क्षेत्र स्वीकार कर लिए गए थे। वेदों और ब्रह्म-विद्याका अध्ययन-अध्यापन 'विद्या' या ज्ञानके रूपमें था और लिखना-पढ़ना, हिसाब लगाना तथा जीवन-यात्रामें उपयोगी अन्यान्य बातें 'कला' का विषय समझी जाती रहीं। बहुत पहलेसे ही 'शिक्षा' एक विशेष वेदांगका नाम हो गया था और इसीलिये लिखना-पढ़ना, हिसाब-किताब रखना, विविध भाषाओं और कौशलोंकी जानकारी 'कला' नामसे चलने लगी थी। विद्याका क्षेत्र बहुत पहलेसे ब्राह्मणके हाथमें रहा और 'कला' का क्षेत्र क्षत्रियों, राजकुमारों और राजकुमारियों तथा वैश्योंके लिये नियत था। भारतवर्षके दीर्घ इतिहासमें यह नियम हमेशा बना रहा होगा, ऐसा सोचना ठीक नहीं है। वस्तुतः इस प्रकारकी स्थिति एक खास अवस्थामें रही होगी। पुराने साहित्यमें अनेक उदाहरण हैं, जहाँ ब्राह्मण क्षत्रियोंसे ब्रह्म-विद्या पढ़ते थे। शतपथ ब्राह्मण (११-६-२१-५) से पता चलता है कि याज्ञवल्क्यने जनकसे विद्या सीखी थी। काशीके राजा अजात-

शत्रुसे बालाकि गार्ग्यने विद्या सीखी थी। यह बात बृहदारण्यक और कौशीतकी उपनिषदोंसे मालूम होती है। छान्दोग्यसे जान पड़ता है कि श्वेत-केतु आरुणेयने प्रवाहण जैवलिसे ब्रह्म-विद्या सीखी थी। इस प्रकारके और भी बहुतसे उदाहरण दिए जा सकते हैं। डायसन जैसे कुछ चोटीके यूरोपियन विचारक तो इन प्रसंगोंसे यहाँ-तक अनुमान करते हैं कि ब्रह्मविद्याके मूल प्रचारक वस्तुतः क्षत्रिय ही थे। यह अनुमान कुछ अधिक व्याप्तिमय जान पड़ता है; परन्तु यह सत्य है कि कर्मकाण्डके उग्र और मृदु विरोधियोंमें क्षत्रियोंकी संख्या बहुत अधिक थी और जिन महान् नेताओंको भारतवर्ष आज भी याद किया करता है, उनमें क्षत्रियोंकी संख्या बहुत बड़ी है। जनक, श्रीकृष्ण, भीष्म, बुद्ध, महावीर—सभी क्षत्रिय थे। महाभारतसे तो अनेक शूद्रकुलोत्पन्न ज्ञानी गुरुओंका पता चलता है। मिथिलामें एक धर्मनिष्ठ व्याध परम ज्ञानी थे। तपस्वी ब्राह्मण कौशिकने उनसे ज्ञान पाया था। (वन० २०६ अ०) शूद्रागर्भजात विदुर बड़े ज्ञानी थे। सूत जातिके लोमहर्षण, संजय और सौति धर्म-प्रचारक थे। सौतिने तो महाभारतका ही प्रचार किया था, परन्तु सम्पूर्ण हिन्दू शास्त्रोंमें प्रधानतः ब्राह्मण ही गुरु रूपमें स्वीकृत पाए जाते हैं।

यद्यपि जाति-व्यवस्था भारतीय समाजकी अपनी विशेषता है तथापि संसार भरमें आदिम युगमें खास-खास कौशल वर्ग-विशेषमें ही प्रचलित पाए जाते हैं। इसका कारण यह होता है कि साधारणतः पितासे विद्या सीखनेकी प्रथा हुआ करती थी। इसीलिये विशेष विद्याएँ विशेष-विशेष कुलोंमें ही सीमाबद्ध रह जाती थीं। वेदोंसे ही पता चलता है कि ब्रह्मविद्या और कर्मकाण्ड आदि विद्याएँ वंश-परंपरासे सीखी जाती थीं। बादमें तो इस प्रकारकी भी व्यवस्था मिलती है कि जिसके घरमें वेद और वेदोंकी परम्परा तीन पुश्ततक छिन्न हो उसे दुर्ब्राह्मण समझना चाहिए (बौधायन गृह्यपरिभाषा १–१०–५–६)। परन्तु नाना कारणोंसे पितृ-परंपरासे शिक्षा-प्राप्तिका क्रम चल नहीं पाया। समाजमें जैसे-जैसे धनकी प्रतिष्ठा बढ़ती गई और राजा और सेठ प्रमुख होते गए वैसे-वैसे जानकारियोंसे द्रव्य उपार्जनकी आवश्यकता और प्रवृत्ति भी बढ़ती गई। विद्या सिखानेके लिये भी धन मिलने लगा और धनकी इस वितरण-व्यवस्थाके कारण ही विद्या वंशके बाहर जाने लगी। ब्रह्मविद्या भी वंशपरम्परा तक सीमित नहीं रह सकी। महाभारतमें दो प्रकारके अध्यापकोंका उल्लेख है। एक प्रकारके अध्यापक तो अपरिग्रही होते थे। उनके पास विद्यार्थी जाते थे। भिक्षा माँगकर गुरुके परिवारका और अपना

खर्च चलाते थे और गुरुके घरका सब काम-काज करते थे। कभी-कभी तो गुरु लोग विद्यार्थियोंसे बहुत काम लेते थे। इसकी प्रतिक्रियाके भी उदाहरण महाभारतमें मिल जाते हैं। अपने गुरु वेदाचार्यके पास रहते समय उत्तंकको अनेक दुःखपूर्ण कार्य करने पड़े थे। जब स्वयं उत्तंक आचार्य हुए तो उन्हें पुरानी बातें याद थीं और उन्होंने अपने विद्यार्थियोंसे काम लेना बन्द कर दिया (आदि ३।८१), परन्तु सब मिलाकर गुरुका अपार प्रेम ही अपने शिष्योंपर प्रकट होता है। दूसरे प्रकारके ऐसे अध्यापक थे, जिन्हें राजा लोग अपने घरपर वृत्ति देकर नियुक्त कर लेते थे। द्रोणाचार्य और कृपाचार्य ऐसे ही अध्यापक थे। द्रौपदी और उत्तराकी कथाओंसे पता चलता है कि राजकुमारियोंके लिए इसी प्रकार वृत्तिभोजी अध्यापक रखे जाते होंगे। बौद्धयुगमें भी यह प्रथा पाई जाती है। यह नहीं समझना चाहिये कि केवल 'कला' सिखानेके लिए ही घरपर अध्यापक नियुक्त किये जाते थे। ब्रह्मविद्या सिखानेके लिए भी अध्यापक बुलाकर पास रखनेके उदाहरण मिलते हैं। राजर्षि जनकने आचार्य पंचशिखको चार वर्षतक घरपर रखा था। सम्भवतः उन्होंने कोई वृत्ति नहीं ली थी।

२०-स्नान-भोजन

पुराना रईस स्नान नित्य किया करता था। परन्तु उसका स्नान कोई मामूली व्यापार नहीं था। काम-काज समाप्त होनेके बाद मध्याह्नसे थोड़ा पूर्व वह उठ पड़ता था। पहले तो अपने समवयस्क मित्रोंके साथ मधुर व्यायाम किया करता था, उसके दोनों कपोलोंपर और ललाट देशमें पसीनेकी दो-चार बूँदें सिन्धुवार पुष्पकी मंजरीके समान झलक उठती थीं, तब वह व्यायामसे विरत होता था। परिजनोंमें तब फिर एक बार दौड़-धूप मच जाती थी। रईस अपने स्नानागारमें पहुँचता था, वहाँ स्नानकी चौकी होती थी जो साधारणतः संगमर्मरकी बनी होती थी और बहुमूल्य धातुओंके पात्रमें सुगन्धित जल रखा हुआ रहता था। उस समय परिचारक या परिचारिका उसके केशोंमें सुगन्धित आमलक (आँवले) का पिसा हुआ कल्क, धीरे-धीरे मलती थी और शरीरमें सुवासित तैल मर्दन करती थी। नागरककी गर्दन या मन्या तैलका विशेष भाग पाती थी, उसपर देरतक तेलकी मालिश होती थी क्योंकि विश्वास किया जाता था कि बुद्धिजीवी व्यक्तिकी मन्यापर तेल मलनेसे मस्तिष्कके

तन्तु अधिक सचेत होते हैं। स्नान-गृहमें एक जलकी द्रोणी (टब) होती थी, उसमें रईस थोड़ी देर बैठते थे और बादमें स्नानकी चौकीपर आ विराजते थे। उनके सिरपर सुगन्धित वारिधारा पड़ने लगती थी और तृप्तिके साथ उनका स्नान समाप्त होता था। फिर वे सर्पनिर्मोक (केंचुल) के समान श्वेत और चमकीली धोती पहनते थे। धोती अर्थात् धौत वस्त्र। इस शब्दका अर्थ है धुला हुआ वस्त्र। ऐसा जान पड़ता है कि नागरकके वस्त्रोंमें सिर्फ धोती ही नित्य धोई जाती थी, बाकी कई दिन तक अधौत रह सकते थे। कुछ दूसरे पंडित 'धौत' शब्दको अधोवस्त्रका रूपान्तर मानते हैं। पुराने जमानेसे ही उष्णीष (पाग), उत्तरीय (चादर) और अधोवस्त्र (धोती) इस देशके नागरिकोंके पहनावे रहे हैं। सिले वस्त्र इस देशमें चलते अवश्य थे, यद्यपि कई सूत्रकारोंने सिले वस्त्र पहननेका निषेध ही किया है। आजकल जितने प्रकारके हिन्दू पहनावोंके नाम हैं वे अधिकांशमें विदेशी प्रभाववश आए हैं। अचकन-का मूल रूप भी कुषाणोंकी देन है, कुर्ता जिसका एक नाम पंजाबी है, सम्भवतः पंजाबमें बसे हुए हिन्द-यवनोंकी देन है और कमीज और शेमीज एक ही विदेशी शब्दके रूपान्तर हैं। सो, उन दिनोंका नागरिक धौत-वस्त्र और उत्तरीयका प्रेमी था। धौतवस्त्रका अर्थ धोया जानेवाला वस्त्र ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है; इसका कारण स्पष्ट है, क्योंकि नागरकका उत्तरीय या चादर कुछ ऐसा वैसा वस्त्र तो होता नहीं था; उसमें न जाने कितने आयासके बाद दीर्घकालतक टिकनेवाली सुगन्धि हुआ करती थी। इसलिये धौतवस्त्र (धोती) की अपेक्षा उत्तरीय (चादर) ज्यादा मूल्यवान् होती थी। मस्तकपर नागरक एक क्षौम वस्त्रका अंगौछा-सा लपेट लेता था जिसका उद्देश्य केशोंकी आर्द्रता सोखना होता था। यह सब करके नागरक संध्या-तर्पण और सूर्योपस्थान आदि धार्मिक क्रियाओंसे निवृत्त होता था (कादम्बरी कथामुख)।

अजन्तामें कुमार गौतमके स्नानका एक मनोहर दृश्य चित्रित किया गया है। इस-में कुमार एक स्फटिककी चौकीपर बैठे हैं। दो परिचारक सिरपर सफेद गमछा बाँधे पीछेसे पानी ढाल रहे हैं। चौकीके पास ही एक परिचारिका थालीमें कुछ लिये खड़ी है। स्नानागारके बगलवाले हिस्सेमें एक भृत्य सुगन्धित जलसे भरा हुआ कलश ले आ रहा है, कलशके भारसे उसकी गर्दन झुक गई है। तीन परिचारिकाएँ और हैं। एकके सिरपरसे कुछ द्रव्य एक उतार रही है और तीसरी कोई प्रसाधन सामग्री लेकर स्नानागारकी ओर जा रही है। स्नानकी चौकीके पास एक और परिचारिकाका अस्पष्ट चित्र है। इसी प्रकार १७ वीं गुहाके एक चित्रमें स्नानके पश्चात् रानीके

प्रसाधनका बड़ा ही अभिराम चित्र है । इसमें रानी स्वयं मुकुर लेकर प्रसाधन-नैपुण्यको देख रही हैं । यह चित्र अजन्ताके उत्तम कलात्मक चित्रोंमेंसे एक है । इस प्रकार स्नान और स्नानोत्तर प्रसाधनके और भी अनेकानेक चित्र उपलब्ध हुए हैं ।

जैसा कि शुरूमें ही कहा गया है, नागरक स्नान नित्य किया करता था, पर शरीरका उत्सादन एक दिन अन्तर देकर कराता था । उसके स्नानमें एक प्रकारकी वस्तुका प्रयोग होता था जिसे फेनक कहते थे, वह आधुनिक साबुनका पूर्वपुरुष था । उससे शरीरमें स्वच्छता आती थी, परन्तु प्रतिदिन उसका व्यवहार नहीं किया जाता था, हर तीसरे दिन फेनकसे स्नान विहित था (का० सू० पृ० ४७) ।

स्नान, पूजा और तत्सम्बद्ध अन्य कृत्योंके समाप्त होनेके बाद नागरक भोजन करने बैठता था । भोजन दो बार विहित था, मध्याह्नको और अपराह्नको । यह वात्स्यायनका मत है । चारायण सायाह्नको दूसरा भोजन होना ज्यादा अच्छा समझते थे। नागरकके भोजनमें भक्ष्य, भोज्य, लेह्य (चटनी), चोष्य (चूसने योग्य), पेय सब होता था । गेहूँ, चावल, जौ, दाल, घी, मांस सब तरहका होता था, अन्तमें मिठाई खानेकी भी विधि थी । भोजन समाप्त करनेके बाद नागरक आराम करता था और एक प्रकारकी धूमवर्ति (चुरुट) भी पीता था । धूम्रपानके बाद वह ताम्बूल या पान लेता था और कोई सम्वाहक धीरे-धीरे उसके पैर दबा देता था (कादम्बरी कथा-मुख) । सम्वाहनकी भी कला होती थी । मृच्छकटिक नाटकके नायक चारुदत्तका एक उत्तम सम्वाहक था, जो उसके दरिद्र हो जानेके बाद जुआ खेलने लगा था । चारुदत्तकी प्रेमिका वसन्तसेनासे जब उसका परिचय हुआ तो वसन्तसेनाने उसकी कलाकी दाद देते हुए कहा कि भाई, तुमने तो बहुत उत्तम कला सीखी है । इसपर उसने जवाब दिया कि आर्ये, कला समझकर ही सीखी थी, पर अब तो यह जीविका हो गई है !

ऊपर हमने भोजनका बहुत संक्षिप्त उल्लेख कर दिया है । इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि हमारे पुराने रईसका भोजन-व्यापार बहुत संक्षिप्त हुआ करता था ।

२१—भोजनोत्तर विनोद

भोजनके बाद दिवा-शय्या (दिनका सोना) करनेके पहले नागरक लेटे-लेटे

थोड़ा मनोविनोद करता था। शुक-सारिका (तोता-मैना) का पढ़ाना, तित्तर और बटेरोंकी लड़ाई, भेड़ोंकी भिड़न्त, उसके प्रिय विनोद थे (का० सू० पृ० ४७)। उसके घरमें हंस, कारण्डव, चक्रवाक, मोर, कोयल आदि पक्षी; बानर, हरिन, व्याघ्र, सिंह आदि जन्तु भी पाले जाते थे। समय-समय पर वह उनसे भी अपना मनोरंजन करता था (का० सू० पृ० २८४)। इस समय उसके निकटवर्ती सहचर पीठमर्द, विट, विदूषक भी आ जाया करते थे। वह उनसे आलाप भी करता था। फिर सो जाता था। सोकर उठनेके बाद वह गोष्ठी-विहारके लिये प्रसाधन करता था, अंग-राग, उपलेपन, माल्यगंध और उत्तरीय सम्भालकर वह गोष्ठियोंमें जाता था। हमने आगे इन गोष्ठियोंका विस्तृत वर्णन किया है। यहाँ उनकी चर्चा संक्षेपमें ही कर ली है। गोष्ठियोंसे लौटनेके बाद वह सांध्य कृत्योंसे निवृत्त होता था और सायं-काल संगीतानुष्ठानोंका आयोजन करता था या अन्यत्र आयोजित संगीतका रस लेने जाता था। इन संगीतकोंमें नाच, गान अभिनय आदि हुआ करते थे (का० सू० पृ० ४७-४८)। साधारण नागरक भी इन उत्सवोंमें सम्मिलित होते थे। मृच्छकटिकके रेभिल नामक सुकंठ नागरकने सायं संध्याके बाद ही अपने घर पर आयोजित संगीतक नामक मजलिसमें गान किया था। इन सभाओंसे लौटनेके बाद भी नागरक कुछ विनोदोंमें लगा रहता था। परन्तु वे उसके अत्यन्त निजी व्यापार होते थे। इस प्रकार प्राचीन भारतका रईस प्रातःकालसे सन्ध्यातक एक कलापूर्ण विलासिताके वातावरणमें वास करता था। उसके विलाससे किसी-न-किसी कलाको उत्तेजना मिलती थी, उसके प्रत्येक उपभोग्य वस्तुके उत्पादनके लिये एक सुरुचिपूर्ण परिश्रमी परिचारक-मण्डली नियुक्त रहती थी। वह धनका सुख जमकर भोगता था और अपनी प्रचुर धन-राशिके उपभोगमें अपने साथ एक बड़े भारी जनसमुदायकी जीविकाकी भी व्यवस्था करता था। वह काव्य, नाटक, आख्यान, आख्यायिका आदिकी रचनाको प्रत्यक्ष रूपसे उत्साहित करता था और नृत्य, गीत, चित्र और वादित्रका तो वह शरण रूप ही था। वह रूप-रस-गंध-स्पर्श आदि सभी इन्द्रियार्थोंके भोगनेमें सुरुचिका परिचय देता था और विलासितामें आकंठ मग्न रहकर भी धर्म और अध्यात्मसे एकदम उदासीन नहीं रहता था। उस युगके साहित्यमें भोगके साथ-ही-साथ त्यागका, विलासिताके साथ शौर्यका और सौंदर्य-प्रेमके साथ आत्मदानका आदर्श सर्वत्र सुप्रतिष्ठित था। सब समय आदर्शके अनुकूल आचरण नहीं हुआ करता था, परन्तु फिर भी आदर्शका महत्त्व भुलाया नहीं जा सकता।

२२—अन्तःपुर

परन्तु कलाओंका सबसे बड़ा आश्रयदाता था राजाओं और रईसोंका अन्तः-पुर। पुरुषोंकी दुनिया उतनी निर्विघ्न नहीं होती थी। प्रायः ही वास्तविकताके कठोर आघात रोमांसके वातावरणको क्षुब्ध कर जाते थे। युद्ध-विग्रह, दंगा-फसाद, व्यापार-हानि, चोर डाकुओंका उपद्रव, दूर-दूर देशोंकी यात्रा, लौटनेमें अनिश्चित विश्वास; ये और ऐसे ही अनेक अन्य उत्पात पुरुषोंकी बैठकको चंचल बनाते रहते थे। पर अन्तःपुरतक विक्षोभकी लहरियाँ बहुत कम पहुँच पाती थीं। शत्रु और मित्र दोनों ही उन दिनों अन्तःपुरकी शान्तिका सम्मान करते थे। प्राचीन ग्रन्थोंसे अनुमान होता है कि राजकीय अन्तःपुरोंमें नाट्य-शालाएँ भी होती थीं। रामायणके पुराने युगमें ही 'वधूजन-नाट्य-संघ' की चर्चा मिलती है। प्रियदर्शिकामें जो नाटक खेला गया था और मालविकाग्निमित्रमें जिस अभिनय-प्रतिद्वंद्विताकी चर्चा है वे अन्तःपुरके रंगमंच-पर ही अभिनीत हुए थे। नाच, गान, वाद्य, चित्रकारी आदि सुकुमार कलाएँ अन्तःपुरमें जीती थीं।

कामसूत्रसे जान पड़ता है कि तत्कालीन नागरकजन अपना घर पानीके आस-पास बनाया करते थे (पृ० ४१), पर परवर्ती ग्रन्थोंसे जान पड़ता है कि इस बातको कोई बहुत आवश्यक नहीं समझा जाता था। घरके दो भाग तो होते ही थे। बाहरी प्रकोष्ठ पुरुषोंके लिये और भीतरी प्रकोष्ट अन्तःपुरकी स्त्रियोंके लिये। वराहमिहिरने बृहत्-संहितामें ऐसे मकान बनानेकी विस्तृत विधि बताई है। साधारणतः ये मकान नगरीके प्रधान राजपथोंकी दोनों ओर हुआ करते थे। अन्तःपुरकी वधुएँ ऊपरी तल्लेमें रहा करती थीं, क्योंकि प्राचीन काव्यों और नाटकोंमें किसी विशेष उत्सवादिके देखनेके सिलसिलेमें ऊपरी तल्लेके गवाक्षोंसे अन्तःपुरिकाओंके देखनेका वर्णन प्रायः मिल जाया करता है। अन्तःपुरके ऊपरी तल्लेके घरोंमें गवाक्ष निश्चितरूपसे रहते थे। राजपथकी ओर गवाक्षोंका रखना आवश्यक समझा जाता था। ये अन्तःपुरके ऊपरी तल्लेके गवाक्ष कुछ ऊँचेपर बैठाए जाते थे। मालती-माधवकी मालती ऊपरके तल्लेपरसे माधवको रथ्या (रथके चलने लायक चौड़ी सड़क) मार्गसे भ्रमण करते हुए देखा करती थी। देखनेवाला वाता-यन 'तुंग' था अर्थात् ऊँचाईपर था। ऊँचेपर बनानेका उद्देश्य संभवतः यह होता था, कि अतःपुरिकाएँ तो बाहरकी ओर देख सकें, पर बाहरके लोग उन्हें न

देख सकें। प्रथम अंकमें कामन्दकीके कहे हुए इस श्लोकसे यही अनुमान पुष्ट होता है।

भूयोभूयः सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्तं
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुंगवातायनस्था।
साक्षात्कामं नवमिव रतिर्मालिनी माधवं तत्
गाढोत्कण्ठा लुलितलुलितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ॥

जो महल नदीके किनारे होते थे उनमें उस ओर जालीदार गवाक्ष लगे रहते थे। इन जालीदार गवाक्षोंसे वधुएँ नदीकी चंचल तरंगोंकी शोभा देख सकती थीं। सुनन्दाने इन्दुमतीको इन जालीदार गवाक्षोंसे जलवेणि-सी रमणीय तरंगोंवाली रेवाकी चटुल शोभा देखनेको कहा था, जो माहिष्मतीके किलेके नीचे करधनीकी भाँति लिपटी हुई थी। जिस राजाके प्रासाद-गवाक्षोंसे इस सुन्दर शोभाका देखना संभव था उसकी अंक-लक्ष्मी होना सौभाग्यकी बात थी—

अस्यांकलक्ष्मीर्भव दीर्घबाहोर्माहिष्मतीवप्रनितम्बकाञ्चीम्
प्रासादजालैर्जलवेणिरम्यां रेवां यदि प्रेक्षितुमस्ति कामः। (रघु० ६.४३)

पर इन्दुमतीकी ऐसी इच्छा हुई नहीं। अस्तु। ऊपरके गृहका फाटक बहुत भव्य और विशाल हुआ करता था। नाटकों, काव्यों आदिमें जो वर्णन मिलता है उसमें थोड़ी अतिरंजना हो सकती है, क्योंकि बहुत प्राचीन कालसे भारतीय कविने इस सहज-सीधी बातको जान लिया था कि कला-वस्तु केवल वास्तवका अनुकरण नहीं है। उसमें कुछ कृत्रिम मूल्योंका आरोप करना पड़ता है। कवि-कौशल उन मूल्यों-के उपयोग और सजावटमें है। सो इन रचनाओंमें कल्पित मूल्य अवश्य है। उतना हिस्सा छानकर भी हम कुछ बात जान सकते हैं।

साहित्यिक वर्णनोंको देखकर अनुमान किया जा सकता है कि सामनेकी भूमिको पहले पानीसे आर्द्र करके बादमें झाड़ दिया जाता था और उसके ऊपर गोबरसे लीप दिया जाता था। भूमिका भाग या मकानकी चौकी नाना प्रकारके सुगन्धित पुष्पों और रंगे हुए चावलोंसे सुसज्जित किया जाता था। ऊँचे फाटकके ऊपर गज-दन्तों (खूँटियों) में मालतीकी माला मनोहर भंगीमें लटका दी जाती थी। फाटकके ऊपर उपरले तल्लेका जो वातायन (खिड़की) हुआ करता था उसके नीचे मोतियों-की (या कम-से कम फूलोंकी) माला लटकती रहती थी। तोरणके कोनोंमें हाथीकी मूर्तियाँ बनी होती थीं जो अपने दाँतोंपर या सूँड़पर भार धारण करती हुई जान पड़ती थीं (मृच्छ० चतुर्थ अंक)। ईसवी पूर्व दूसरी शतीका एक तोरण ब्रैकेट साँचीमें

पाया गया है, जिसमें हाथीके सामने अत्यन्त सुकुमार भंगीमें एक स्त्री-मूर्ति वृक्षशाखा पकड़ कर खड़ी है। इस प्रकारकी नारी-मूर्तियोंको तोरणशाल-भंजिका कहते थे। शालभंजिका पुतली या मूर्तिको भी कहते हैं और वेश्याको भी। सन् ईसवीकी दूसरी शताब्दीकी एक तोरणशाल-भंजिका मिली है, जिसका दाहिना चरण हाथीके कुंभपर है और बाँया जरा ऊपर उठे हुए सूँड़ पर। अश्वघोषके बुद्धचरितमें खिड़कीके सहारे लेटी हुई धनुषाकार झुकी हुई नारीकी तोरण-शालभंजिकासे उपमा दी गई है—

अवलंब्य गवाक्षपार्श्वमन्या
शयिता चापविभुग्नगात्रयष्टिः।
विरराज विलंबिचारुहारा
रचिता तोरणशालभञ्जिकेव॥

(२५, ५२)

काव्यों, नाटकों, मूर्तियों और प्रासादोंके भग्नावशेषोंसे यह अनुमान पुष्ट होता है कि नागरिकके मकानमें तोरणशालभंजिकाओंके विविध रूपकी मनोहर भंगिमाएँ पाई जाती होंगी। साधारणतः तोरण-द्वार महारजन या कुसुंभी रंगसे पुता होता था, प्रत्येक गृहपर सौभाग्यपताकाएँ भी फहराती रहती थीं (मृच्छ० चतुर्थ अंक)। तोरण-स्तम्भके पार्श्वमें वेदियाँ बनी होती थीं, जिनपर स्फटिकके मंगल-कलश सुशोभित रहते थे। इन कलशोंको जलसे भर दिया जाता था और ऊपर हरित आम्र-पल्लवसे आच्छादन करके अत्यन्त ललाम बना दिया जाता था। बादमें चलकर वेदीके पास पल्लवाच्छादित पूर्ण कुम्भ उत्कीर्ण कर देनेकी भी प्रथा चल पड़ी थी। स्कन्द पुराणके अवन्तिका खंडमें अवन्ती नगरका वर्णन करते समय पुराणकारने बताया है, कि "उसमें अनेक बड़े-बड़े हाट-बाजार थे। विशाल चौराहे थे। सड़कके दोनों ओर सुन्दर-सुन्दर महल बने हुए थे, जिससे सड़कोंकी शोभा बढ़ रही थी। वे प्रासाद स्फटिकसे निर्मित थे, उनके फर्श वैडूर्यमणिके थे। वे सुवर्णजटित प्रवालस्तंभोंपर टिके हुए थे। उनमें लाल पत्थरोंकी देहलियाँ बनी हुई थीं—बाहर मोतीकी झालरें टँगी हुई थीं, प्रत्येक भवनमें सुवर्णके स्तंभोंपर सौभाग्यपताकाएँ लहरा रही थीं, मणिजटित सुवर्णके कलश प्रत्येक भवनकी शोभा बढ़ा रहे थे।" इस वर्णनमें सुवर्ण और मणिकी अतिरंजना कम कर दी जाय, तो साधारण नागरिकोंके घरका एक चित्र मिल जाता है। उन दिनों पूर्ण कुंभ-स्थापनाकी प्रथा इतनी व्यापक थी कि कवियोंने उपमाके लिये उसका व्यवहार किया है। हालने प्रेमिकाके हृदय-मंदिर-

में पधारनेवाले प्रेमीके लिये सुसज्जित पूर्ण कुंभकी जो कल्पना की थी वह इसी प्रथाके कारण—

रत्थापइएणगाश्रणुप्पला तुमं सा पडिच्छए एंतम् ।
दारणिहिएहिं दोहिं वि मंगलकलसेहिं व थणेहिं ।।

(गाथा० २-४०)

इन वेदियोंके पीछे विशाल कपाट हुआ करते थे और दूरसे प्रासादके भीतर जानेवाली सोपान-पंक्तियाँ दिखाई देती थीं । सीढ़ियोंपर चन्दन-कपूर आदिके संयोगसे बना हुआ सुगन्धित चूर्ण बिछा रहता था । इन्हीं सीढ़ियोंके आरम्भ-स्थानके पास दौवारिक या द्वारपाल बैठा रहता था । घरकी देहलीपर दधि और भात या अन्य खाद्य वस्तु देवताओंको दी हुई बलिके रूपमें रख दी जाती थी, जिसे या तो काक खा जाते थे या घरके पाले हुए सारस, मयूर, लाव, तित्तिर आदि पक्षी (मृच्छ चतुर्थ अंक)। चारुदत्त जब दरिद्र हो गया तो इस देहलीमें तृणांकुर उत्पन्न हो आए थे ।

संस्कृतके काव्योंमें जिन अन्तःपुरोंका वर्णन मिलता है वे साधारणतः बड़े-बड़े राजकुलोंके या अत्यधिक संभ्रान्त लोगोंके होते हैं । इसीलिये संस्कृतका कवि इनका वर्णन बड़े ठाट-बाटसे करता है । अन्तःपुरके भीतरी भागकी बनावट कैसी होती होगी इसका अनुमान ही हम काव्यों-नाटकों आदिसे कर सकते हैं । मृच्छकटिकका विदूषक अभ्यन्तरचतुःशाल या अन्तःचतुःशालके द्वारपर बैठकर पक्वान्न खाया करता था । इस अन्तःचतुःशाल शब्दसे अनुमान किया जा सकता है कि भीतर एक आँगन होता होगा और उसके चारों ओर शालाएँ (घर) बनी होती होंगी । वराहमिहिर अन्तःपुरसे आँगनके चारों अलिन्दों या बरामदोंकी व्यवस्था देते हैं । इन बरामदोंके खंभे शुरूमें लकड़ीके हुआ करते थे, बादमें पत्थर और ईंटके भी बनने लगे थे । इन खम्भोंपर भी शालभंजिकाएँ बनी होती थीं । ये मूर्तियाँ सौभाग्य-सूचक होती थीं । रामायण (बालकाण्ड ५ वाँ सर्ग) में आदि कविने अयोध्याके वर्णनके प्रसंगमें वधू-नाटक-संघों, उद्यानों, कूटागारों और विमानगृहोंकी चर्चा की है। टीकाकार रामभट्टने वधूनाटक-संघका अर्थ किया है—वधुओंके लिये बनी हुई नाटक-शाला; उद्यानका अर्थ किया है क्रीड़ाके लिये बनवाई हुई पुष्पवाटिका; कूटागार शब्दका अर्थ बताया है स्त्रियोंके क्रीड़ा-गृह और विमानगृहका अर्थ किया है सप्तभूमि या सात तल्लोंके मकान । इससे अनुमान किया जा सकता है, कि रामायण-रचनाके

कालमें भी विशाल प्रासादोंके अन्तःपुरोंका रूप उतना ही भव्य था जितना परवर्ती काव्योंमें है। रघुवंशके सोलहवें सर्गमें इन योषित्-मूर्तियोंकी बात है (१६-१७)। साँची, भरहुत, मथुरा, जागयपेट, भूतेश्वर आदिसे खम्भों और रेलिंगोंपर खुदी हुई बहुत शालभंजिकाएँ पाई गई हैं। पुराने काव्योंमें अन्तःपुरिकाओंकी परिचारिकाओंके जो विविध क्रिया-कलाप हैं, वे इन मूर्तियोंमें देखे जाते हैं। अनुमान होता है कि अन्तःचतुःशालाके खम्भोंपर जो मूर्तियाँ उत्कीर्ण रही होंगी उनमें भी शृंगार और मांगल्यके व्यंजक भावोंका ही प्राधान्य रहता होगा।

२३—अन्तःपुरकी वृक्ष-वाटिका

इस अन्तःपुरसे लगी हुई एक वृक्ष-वाटिका हुआ करती थी। इसके बीचों-बीच एक दीर्घिका या लंबा तालाब रहा करता था। जगह कम हुई तो कुएँ या बावड़ीसे ही काम चला लिया जाता था, पर आज हम उन लोगोंकी बात नहीं करने जा रहे हैं जो भाग्यदेवीके त्याज्य-पुत्र हैं। इसलिये कामचलाऊ चीजें बनानेवालोंकी चर्चा करके इस प्रसंगको छोटा नहीं बनने देंगे। तो इस वृक्ष-वाटिकामें फलदार वृक्षोंके सिवा पुष्पों और लताकुञ्जोंकी भी व्यवस्था रहती थी। फूलके पौधे एक क्रमसे लगाए जाते थे। वासगृहके आस-पास छोटे-छोटे पौधे, फिर क्रमशः बड़े गुल्म, फिर लता-मंडप और सबसे पीछे बड़े-बड़े वृक्ष हुआ करते थे। एक भागमें एक ही श्रेणीके फूल लगाए जाते थे। अन्धकारमें भी सहृदय नागरकको यह पहचाननेमें आयास नहीं होता था कि इधर चम्पकोंकी पाली है, यह सिंधुवारका मार्ग है, इधर बकुलोंकी घनी वीथी है और इस ओर पाटल पुष्पोंकी पंक्ति है—

पालीयं चम्पकानां नियतमयमसौ सुन्दरः सिन्धुवारः
सान्द्रा वीथी तथेयं बकुलविटपिनां पाटला पंक्तिरेषा।
आघ्रायाघ्राय गन्धं विविधमधिगतैः पादपैरेवमस्मिन्
व्यक्तिं पंथाः प्रयाति द्विगुणतरतमोनिह्नुतोऽप्येष चिह्नैः।

(रत्नावली ३-५३)

गृह-स्वामिनी अपनी रंधनशालाके काम लायक तरकारियाँ भी इसी वाटिकासे एक अंशमें उत्पन्न कर लेती थीं। वात्स्यायनके काम-सूत्र (पृ० २२८) में बताया गया है कि वे इस स्थानपर मूलक (मूली), आलुक (कन्द), पलंकी (पालक),

दमनक (दवना), आम्रातक (आमड़ा), ऐर्वारुक (फूटी), त्रपुष (खीरा), वार्ताक (बैंगन), कुष्मांड (कुम्हड़े), अलाबु (कद्दू), सूरण (सूरन), शुकनासा (अगस्ता), स्वयंगुप्ता (केंवाछ), तिलपर्णिका (शाक विशेष), अग्नि-मन्थ, लशुन, पलाण्डु (प्याज) आदि साग-भाजी उगाती थीं। इस सूचीसे जान पड़ता है कि भारतवर्ष आजसे दो हजार वर्ष पहले जो साग भाजियाँ खाता था वे अब भी बहुत परिवर्तित नहीं हुई हैं। इन साग-भाजियोंके साथ ये मसाले भी गृह-देवियाँ स्वयं उत्पन्न कर लेती थीं—जीरा, सरसों, अजवायन, सौंफ, तेजपात आदि। वाटिकाके दूसरे भागमें कुब्जक (मालती ?) आमलक, मल्लिका (बेला) जाती (चमेली ?) कुरण्टक (कटसरैया), नवमालिका, तगर, जपा आदि पुष्पोंके गुल्म भी गृहदेवियोंके तत्त्वावधानमें ही उगते थे। ये पुष्प नाना कार्योंमें काम आते थे। इनसे घर सजाया जाता था, जल सुगन्धित किया जाता था, नव-वधुओंका वासक-वेश तैयार होता था, स्थंडिल-पीठिकाओंको सजाया जाता था और सबसे बढ़कर देव-पूजाकी क्रिया सम्पन्न होती थी। वृक्ष-वाटिकाकी पुष्पिता लताएँ कुमारियोंका मनोविनोद करती थीं, नवदम्पतीके प्रणय-कलहमें शर्त बनती थीं और निराश प्रेमिकाके गलेमें फाँसीका काम भी करती थीं (रत्नावली तृतीय अङ्क)! अनुरागी नागरक और उसकी प्रियतमामें पुष्पोंके प्रथम प्रस्फुटनको लेकर बाजी लगती, नाना कौशलोंसे मन्त्र और मणिके प्रयोगसे, प्रियाके दर्शन, वीक्षण, पदाघात आदिसे नाना वृक्ष-लताओंमें अकाल-कुसुम उद्‌गत होते थे। जब प्रेमी हारते थे तो उन्हें प्रियाका शृंगार कर देनेकी सख्त सजा मिलती थी, और जब प्रेमिकायें हारती थीं तो सौतकी भाँति फूली हुई अनुरागभरी लताको बारम्बार आग्रहपूर्वक निहारनेवाले प्रियतमको देखकर उनका मुँह लाल हो उठता था—

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणात्
आयासं श्वसनोद्‌गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन्कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम्।

(रत्नावली, द्वितीय अङ्क)

वृक्ष-वाटिकाके अन्तिम किनारेपर बड़े-बड़े छायादार वृक्ष—जैसे अशोक, अरिष्ट पुन्नाग, शिरीष आदि लगाए जाते थे क्योंकि इनको मांगल्य वृक्ष माना जाता था (पृ० सं० ५५-३) और बीचों-बीच गृह-दीर्घिका हुआ करती थीं। इन दीर्घि-

काओं (तालावों) में नाना भाँतिके जल-पक्षियोंका रहना मंगल-जनक माना जाता था। इनमें कृत्रिम भावसे कमलिनी (पत्र-पुष्प-लतासमेत कमल) उत्पन्न की जाती थी। वराहमिहिरने लिखा है कि जिस सरोवर में नलिनी (कमलिनी) रूप छत्रसे सूर्य-किरणें निरस्त होती हैं; हंसोंके कन्धोंसे धकेली हुई लहरियाँ कल्हारोंसे टकराती हैं; हंस, कारण्डव, क्रौञ्च और चक्रवाकगण कल-निनाद करते रहते हैं, और जिसके तटान्तकी वेत्रवन-छायामें जलचर-पक्षी विश्राम करते हैं; ऐसे सरोवरोंके निकट देवतागण प्रसन्न भावसे विराजते हैं। (बृ० सं० ५६-४-७)। अनुमान किया जा सकता है कि दीर्घिकाओंके तटपर बेंतके कुञ्ज जरूर रहते होंगे। काव्योंमें ऐसे वेतस-कुञ्जोंकी चर्चा प्रायः पाई जाती है। इन्हीं दीर्घिकाओंके बीचमें समुद्रगृह बनाए जाते थे। कामसूत्र (पृ० २८३-४) की गवाहीपर हम कह सकते हैं कि समुद्रगृह पानीमें बना करता था, उसमें गुप्त भावसे पानीके संचारित हो जानेकी व्यवस्था रहा करती थी।

२४—दोला-विलास

वात्स्यायनसे पता चलता है (का० सू० पृ० ४५) कि इस वाटिकामें सघन छायामें प्रेंखा-दोला या झूला लगाया जाता था और छायादार स्थानोंमें विश्रामके लिये स्थंडिल-पीठिकाएँ (बैठनेके आसन) बनाए जाते थे, जिनपर सुकुमार कुसुमदल बिछा दिए जाते थे। प्रेंखा-दोलाकी प्रथा वर्षा ऋतुमें ही अधिक थी। सुभाषितोंमें वर्षा ऋतुके वर्णनके अवसरपर ही प्रेंखा-दोलाओंका वर्णन पाया जाता है। आज भी सावनमें झूले लगाये जाते हैं। वात्स्यायनने जो छायादार वृक्षोंकी घनी छायामें झूला लगानेको कहा है सो इसी वर्षासे बचनेके लिये ही। वस्तुतः वर्षाकाल ही प्रेंखा-विलासका उत्तम समय है। द्युलोक और भूलोकमें समानान्तर क्रियाओंके चलनेकी कल्पना कवियोंने इस प्रेंखा विलाससे की है, और कौन कह सकता है कि कमल-नयनाओंकी आँखें दिशाओंको कमल-फूलकी आरतीसे नीराजित कर देती होंगी, आनन्दोल्लासके हाससे जब चन्द्रिकाकी वृष्टि करती रहती होंगी और विद्युद्गौर कान्तिशाली तरुणियाँ तेजीसे झूलती रहती होंगी तो आकाशमें अचानक विद्युत् चमकनेका भान नहीं होता होगा ?—

दशाविदधिरे दिशः कमलराजिनीराजिताः
कृता हसितरोचिषा हरति चन्द्रिकावृष्टयः।
अकारि हरिणीदृशः प्रबलदण्डकप्रस्फुरद्-
वपुर्विपुलरोचिषा वियति विद्युतो विभ्रमः॥

२५—भवन-दीर्घिका, वृक्षवाटिका और क्रीड़ापर्वत

भवन-दीर्घिकाके अर्थात् घरमें बनाए हुए तालाबके एक पार्श्वमें क्रीड़ा-पर्वत हुआ करते थे, जिनके इर्द-गिर्द पाले हुए मयूर मँड़राते रहते थे। यहाँ अन्तःपुरिकाएँ नाना भाँतिकी विलास-लीलाओंसे मनोविनोद करती मग्न रहती थीं। कामसूत्रमें जिन समुद्र-गृहोंका उल्लेख है वे संभवत: भवन-दीर्घिकाके पास ही या भीतर बना करते थे। इन घरोंमें गुप्त मार्गसे निरन्तर पानी जाते रहनेकी व्यवस्था रहती थी, जिससे ग्रीष्मकालमें भी इनमें ठंडक बनी रहती थी। कहते हैं, विष्णु-स्मृतिमें (५.११७) इन्हीं समुद्र-गृहोंको भेदनेवालोंको दण्ड देनेकी व्यवस्था है। कालिदासने रघुवंशमें जल-क्रीड़ाके प्रसंगमें कुछ 'गूढ़-मोहन-गृहों' का वर्णन किया है। इन गृहोंमें भवन-दीर्घिकाका पानी गुप्त मार्गसे जाया करता था। इन गूढ़-मोहन-गृहोंमें सदा शीतलता बनी रहती थी, (रघु० १६-६)। अनुमान किया जा सकता है कि जिन लोगोंको नदी सुलभ रहती है वे लोग इस कार्यके लिये नदीके पानीका भी अवश्य उपयोग करते होंगे और संभवत "गंगायां घोष:" मुहावरेके मूलमें ऐसे ही घर हों। इन्हीं दीर्घिकाओंसे धारायंत्रको भी पोषण मिला करता था। उनका स्थान तो वाटिकामें रहता था, पर उनके सदा जलोद्गारी होनेका सौभाग्य भवन-दीर्घिकाके जलके कारण ही हुआ करता था। वाटिकाके इस धारायन्त्र या फव्वारेसे अन्तःपुरिकाएँ होलीके दिनों अपनी पिचका-रियोंमें जल भरा करती थीं और अबीर और सिन्दूरसे उसकी जमीनको लाल-लाल कीचड़से आच्छादित कर देती थीं (रत्ना० प्रथक अंक)। इन फव्वारोंमें जल-देवताएँ हंस-मिथुन या चक्रवाक-मिथुन बने होते थे, जो जलधाराको उच्छ्वसित करते रहते थे। अलकापुरीमें मेघदूतको यक्षिणीके अन्तःपुरमें एक ऐसी ही वाटिका थी जिसमें यक्ष-प्रियाने एक छोटेसे मन्दार वृक्षको—जिसके पुष्पस्तबक हाथ-पहुँचके भीतर थे—पुत्रवत् पाल रखा था (मेघ० २-८०) इस उद्यानमें मरकत-मणियोंकी सीढ़ी-वाली एक वापी थी जिसमें वैदूर्यमणिके नालोंपर स्वर्ण कमल खिले हुए थे और

हंसगण विचरण कर रहे थे। इस वापीके तीरपर एक क्रीड़ा-पर्वत था। वह इन्द्र-नीलमणिसे निर्मित था और कनक-कदलीसे वेष्टित था। क्रीड़ा-पर्वत वर्षाकालके लिये बना करते होंगे। अग्निवेश वर्षाकालमें कुटज और अर्जुनकी माला धारण करके और कंदब-रजका प्रसाधन करके कृत्रिम क्रीड़ा-पर्वतोंपर विहार किया करता था। उन दिनों क्रीड़ा-पर्वतपर रहनेवाले पालित मयूर मेघ-दर्शनसे प्रमत्त होकर नाच उठते थे—

अंसलंबिकुटजार्जुनस्रजस्तस्य नीपरजसांगरागिणः।
प्रावृषि प्रमदबार्हिणेष्वभूत् कृत्रिमाद्रिषु विहारविभ्रमः॥

(रघु० १६-३७)

वाटिकाके मध्य भागमें लाल फूलोंवाले अशोक, और वकुलके वृक्ष थे; एक प्रियाके पदाघातसे और दूसरा वदन-मदिरासे उत्फुल्ल होनेकी आकांक्षा रखता था (मेघ० २-८६)। इसमें माधवीलताका मंडप था जिसका बेड़ा (वृक्ष) कुरबक या पियावसाके झाड़ोंका था। कुरबकके झाड़ निश्चय ही उन दिनों उद्यानों और लता-कुंजोंके बेड़ेका काम करते थे। शकुन्तला जब प्रथम दर्शनमें राजा दुष्यन्तकी प्रेम-परवश हो गई और सखियोंके साथ विदा लेकर जाने लगी तो जान-बूझकर अपना बल्कल कुरबककी काँटेदार शाखामें उलझा दिया था ताकि उसके सुलझानेके बहाने फिरकर एक बार राजाको देखनेका मौका मिल जाय। निश्चय ही शकुन्तलाके उद्यानका बेड़ा कुरबक पुष्पोंके झाड़ोंका रहा होगा और बेड़ा पार करके चले जानेपर राजाका दिखाई देना सम्भव नहीं रहा होगा, इसलिये चलते-चलते मुग्धा प्रेमिकाने अन्तिम बार कौशलका सहारा लिया होगा। इसी प्रकारके कुरबकके बेड़ेवाले मंडपमें ही सोनेकी वास-यष्टिपर यक्षप्रियाका वह पालतू मयूर बैठा करता था, जिसे वह अपनी चूड़ियोंकी मंजुध्वनिसे नचा लिया करती थी। उन दिनोंके गृह-पालित पक्षी निश्चय ही बहुत भोले होते होंगे, क्योंकि मयूर चूड़ियोंकी झनकारसे नाच उठता था (मेघ० २-८७)। भवन-दीर्घिकाका कलहंस नूपुरोंकी रुनझुनसे कोलाहल करने लगता था (कादम्बरी, पूर्वभाग) और मुग्ध सारस रसना (करधनी) के मधुर रसितसे उत्सुक होकर अपने क्रेंकारवसे वायुमण्डल कँपा देता था (काद० पूर्व०)। बहुत भीतर जानेपर यक्षप्रियाके शयन-कक्षके पास पिंजड़ेमें मधुरभाषिणी सारिका थी, जिससे वह यदा-कदा अपने प्रियकी बातें पूछा करती थी (मेघ २-८७)। साँची-तोरणपर जो ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दीकी उत्कीर्ण प्रतिकृतियाँ पाई गई हैं उनमें कनक-कदलीसे वेष्टित ऐसी भवन-दीर्घिकाएँ भी पाई गई हैं और वन्य-वृक्षके

छायातले क्रीड़ा-पर्वत भी पाए गए हैं जिनमें प्रेमियोंकी प्रेमलीलाएँ बहुत अभिराम भावसे दिखाई गई हैं। रेलिंगों और स्तम्भोंपर हस्तप्राप्य स्तवक-नमित मन्दार वृक्ष भी हैं और पंजरस्था सारिकावाली प्रेमिका यक्षिणी भी। इस प्रकार जिस युगकी कहानी हम कह रहे हैं उस युगमें ये बातें बहुत अधिक प्रचलित रही होंगी, ऐसा अनुमान होता है।

२६—बाग-बगीचों और सरोवरोंसे प्रेम

यही नहीं समझना चाहिए कि बड़े आदमियोंके अन्तःपुरमें ही बागबगीचे और सरोवर हुआ करते थे। उन दिनोंके किसी भी नगरका वर्णन देखिए तो बाग-बगीचों और सरोवरोंके प्रति जनताका अनुराग प्रकट होता है। कपिलवस्तुके बाहर पाँचसौ बगीचे थे, बाल्मीकिकी अयोध्या उद्यानोंसे भरी हुई थी और कालिदासकी उद्यान-परंपरावाली उज्जयिनीका तो कहना ही क्या। स्कंदपुराणमें अवन्ती-खंडमें भी इस उद्यान-परंपराका बड़ा मनोहर वर्णन है। उद्यानोंकी इन लोभनीय शोभाने पुराणकारके चित्तमें भावावेगका कम्पन उत्पन्न किया था और उनके वर्णनमें पुराणकारकी कविप्रतिभा मुखर हो उठी है—"फूली हुई लताओंसे आच्छादित तरु-समूह प्रियाओंसे आलिंगित सुभगजनोंकी भाँति शोभ रहे थे, पवनान्दोलित मंजरियोंसे सुशोभित आम और तिलकके तरु सुजनोंकी भाँति प्रेमालापसे करते जान पड़ते थे, पुष्प और फल-भारसे समृद्ध वृक्ष-समूह उन सज्जनोंकी भाँति लग रहे थे जो अपना सर्वस्व दूसरोंको देनेमें प्रसन्न बने रहते हैं, अमृत-वल्लरियोंपर बैठे हुए भ्रमर हवाद्वारा हिलाई लताओंपर इस प्रकार नाच रहे थे मानो प्रियतमाके साहचर्यसे मदमत्त कोई प्रेमीजन हो...।" इस प्रकार पुराणकारकी भाषा अबाधभावसे वन-शोभाका वर्णन करती हुई थकना नहीं जानती। और फिर उज्जयिनीके "हर बाजारमें बापियाँ, कुएँ, मनोहर सरोवर आदि जलाशय थे जिनमें अनेक प्रकारके जलजन्तु विहार कर रहे थे और लाल-नीले और श्वेत कमल खिलकर शोभा बढ़ा रहे थे। नाना प्रकारके हंस क्रीड़ा कर रहे थे। भवन-दीर्घिकाओंके जलकी सहायतासे फव्वारे बने हुए थे। कहीं मदमत्त मयूर नाच रहे थे तो कहीं मदविह्वला कोकिला कूक रही थी। गृह-वाटिकाओंके पुष्पस्तवकोंपर भ्रमरगण गुंजार कर रहे थे और सदाचारिणी कुल-वधुएँ कहीं किनारे बैठकर, कहीं नीचेसे और कहीं निकटवर्ती महलोंके छज्जोंसे

इस शोभाका आनन्द उठा रही थीं।" सुनन्दाने इन्दुमतीको लुभानेका एक प्रधान साधन उज्जयिनीकी उद्यान-परम्पराओंको बताया था जो चिप्रा-तरंगसे शीतल बनी हुई हवासे नित्य कम्पित हुआ करती थी—

अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु कच्चिन्मनसो रुचिस्ते।
सिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु ॥

(रघु० ६-३५)

अवश्य ही, इन्दुमती इससे प्रलुब्ध नहीं हो सकी थी। शायद इसलिये कि ऐसी उद्यान-परंपराएँ तो सभी राजधानियोंमें थीं और सिप्रा-तरंग कालिदासको कितने भी प्रिय क्यों न हों, सरयू-तरंगोंसे अधिक मोहक नहीं थे। गंगा-तरंगोंसे तो एकदम नहीं!

२७—अन्तःपुरका सुरुचिपूर्ण जीवन

बाणभट्टकी कादम्बरीमें एक स्थानपर अन्तःपुरका बड़ा ही जीवन्त और रसमय वर्णन है। इस वर्णनसे हमें कुछ काम लायक बातें जाननेको मिल सकती हैं, वैसे यह वर्णन उस किन्नरलोकका है जहाँ कभी किसीको कोई चिन्ता नहीं होती। वह उन वित्तेशोंका अन्तःपुर है जिनके विषयमें कालिदास कह गए हैं कि वहाँ किसीकी आँखोंमें अगर आँसू आते हैं तो आनन्दजन्य ही, और किसी कारणसे नहीं; प्रेमबाणकी पीड़ाओंके सिवा वहाँ और कोई पीड़ा नहीं होती और यह पीड़ा होती भी है तो इसका फल अभीष्ट व्यक्तिकी प्राप्ति ही होती है, वहाँ प्रेमियोंमें प्रणय-कलहके क्षणस्थायी कालके अतिरिक्त और वियोग नहीं कभी होता और यौवनके सिवा और कोई अवस्था उन लोगोंकी जानी हुई नहीं है—

आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तैः
नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात्।
नाप्यन्यस्मात् प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्ति-
र्वित्तेशानां न खलु च वयो यौवनादन्यदस्ति ॥

(मेघ० २·४)

तो ऐसे भाग्यशालियोंके अन्तःपुरमें कुछ बातें ऐसी जरूर होंगी जो हमारी समझके बाहरकी होंगी। उस अन्तःपुरमें कोई लवलिका केतकी (केवड़े) की पुष्प-धूलिसे

लवली (हरफा रेवड़ी) के आलवालोंको सजा रही थी, कोई गन्ध-जलकी वापियोंमें रत्नवालुका निक्षेप कर रही थी, कोई मृणालिका कृत्रिम कमलनियोंके यन्त्र-चक्रवाकोंके ऊपर कुंकुमरेणु फेंक रही थी, कोई मकरिका कपूर-पल्लवके रससे गन्ध-पात्रोंको सुवासित कर रही थी, कोई रजनिका तमाल-वीथिकाके अन्धकारके मणियों-के प्रदीप सजा रही थी, कोई कुमुदिका पक्षियोंके निवारणके लिये दाड़िम फलोंको मुक्ताजालसे अवरुद्ध कर रही थी, कोई निपुणिका मणि-पुत्तलियोंके वक्षःस्थलपर कुंकुम रससे चित्रकारी कर रही थी, कोई उत्पलिका कदली-गृहकी मरकत वेदि-काओंको सोनेकी सम्मार्जनी (झाड़ू) से साफ कर रही थी, कोई केसरिका बकुल-कुसुमके मालागृहोंको मदिरा रससे सींच रही थी और कोई मालतिका कामदेवायतनकी हाथी दाँतकी बनी वलविका (मण्डप) को सिन्दूर-रेणुसे पाटलित कर रही थी। ये सारी बातें ऐसी हैं जिनका अर्थ हम दरिद्र लेखनीधारियोंकी समझमें नहीं आ सकता। हम आँखें फाड़-फाड़कर देखते ही रह जाते हैं कि मधु-मक्खियोंकी भी अपेक्षा अधिक व्यस्त दिखनेवाले इस अन्तःपुरके इन व्यापारोंका अर्थ क्या है। खैर, आगे कुछ ऐसी बातें भी हैं जो समझमें आ जाती हैं। वहाँ कोई नलिनिका भवनके कल-हंसोंको कमलका मधु-रस पान कराने जा रही थी, कोई कदलिका मयूर-को धारागृह या फव्वारेके पास ले जा रही थी—शायद वलय-झङ्कारसे नचा लेनेके लिये!—कोई कमलिनिका चक्रवाक-शावकोंको मृणाल-क्षीर खिला रही थी, कोई चूतलतिका कोकिलोंको आम्र-मञ्जरीका अंकुर खिलानेमें लगी थी, कोई पल्लविका मरिच (काली मिर्च) के कोमल किसलयोंको चुन-चुनकर भवन-हारीतोंको खिला रही थी, कोई लवङ्गिका चकोरोंके पिंजड़ोंमें पिप्पलीके मुलायम पत्ते निक्षेप कर रही थी, कोई मधुरिका पुष्पोंका आभरण बना रही थी और इस प्रकार सारा अन्तःपुर पक्षियोंकी सेवामें व्यस्त था। सबसे भीतर वचनमुखरा सारिक (मैना) और विदग्ध शुक (तोता) थे जिनके प्रणय-कलहकी शिक्षा पूरी हो चुकी थी और कुमार चन्द्रापीड-के सामने अपनी रसिकताकी विद्याका प्रदर्शन करके सारिकाओंने कादम्बरीके अधरों-पर लज्जायुक्त मुसकानकी एक हलकी रेखा प्रकट कर दी थी।

२८—विनोदके साथी—पक्षी

संस्कृत साहित्यमें पक्षियोंकी इतनी अधिक चर्चा है कि अन्य किसी साहित्य-

में इतनी चर्चा शायद ही हो। जिन दिनों संस्कृतके काव्य-नाटकोंका निर्माण अपने पूरे चढ़ावपर था, उन दिनों केलि-गृह और अन्तःपुरके प्रासाद-प्रांगणसे लेकर युद्ध-क्षेत्र और वानप्रस्थोंके आश्रमतक कोई-न-कोई पक्षी भारतीय सहृदयके साथ अवश्य रहा करता था। वह विनोदका साथी था, रहस्यालापका दूत था, भविष्यके शुभाशुभका द्रष्टा था, वियोगका सहारा था, संयोगका योजक था, युद्धका सन्देश-वाहक था और जीवनका कोई ऐसा क्षेत्र नहीं था, जहाँ वह मनुष्यका साथ न देता हो। कभी भवन-वलभीमें सोए हुए पारावतके रूपमें, कभी मानिनीको हँसा देनेवाले शुकके रूपमें, कभी अज्ञात प्रणयिनीके विरहोच्छ्वासको खोल देनेवाली सारिकाके रूपमें, कभी- नागरिकोंकी गोष्ठीको उत्तेजित कर देनेवाले योद्धा कुक्कुटके रूपमें, कभी भवनदीर्घिका (अन्तःपुरके तालाब) में मृणालतन्तुभक्षी कलहंसके रूपमें, कभी अज्ञात प्रियके सन्देशवाहक राजहंसके रूपमें, कभी चूत-कषाय-कण्ठसे विरहिणीके दिलमें हूक पैदा कर देनेवाले कोकिलके रूपमें, कभी नूपुरकी झंकारसे क्रेंकार ध्वनिकारी सारसके रूपमें, कभी कंकणकी रुनझुनसे नाच पड़नेवाले मयूरके रूपमें, कभी चन्द्रिका-पानमें मद-विह्वल होकर मुग्धाके मनमें अपरिचित हलचल पैदा कर देनेवाले चकोरके रूपमें, वह प्रायः इस साहित्यमें पाठककी नजरोंसे टकरा जाता है। इन पक्षियोंको संस्कृत-साहित्यमेंसे निकाल दीजिए, फिर देखिए कि वह कितना निर्जीव हो जाता है। हमारे प्राचीन साहित्यको जिन्होंने इतना सजीव कर रखा है, इतना सरल बना रखा है, उनके विषयमें अभी तक हिन्दीमें कोई विशेष उल्लेख-योग्य अध्ययन नहीं हुआ है, यह हमारी उदासीनताका पक्का प्रमाण है।

महाभारतमें एक पक्षीने एक मनुष्यसे कहा था कि मनुष्य और पक्षियोंमें सम्बन्ध दो ही तरहके हैं—भक्षणका सम्बन्ध और क्रीड़ाका सम्बन्ध। अर्थात् मनुष्य या तो पक्षियोंको खानेके काममें लाता है या उन्हें फँसाकर उनसे मनोविनोद किया करता है—और कोई तीसरा सम्बन्ध इन दोनोंमें नहीं है। एक बधका सम्बन्ध है और दूसरा बन्धका।

> भक्षार्थं क्रीड़नार्थं वा नरा वांच्छन्ति पक्षिणम्।
> तृतीयो नास्ति संयोगो बधबंधादृते क्षमः।
>
> (मा० भ० शान्तिपर्व, १३९-६०)

परन्तु समस्त संस्कृत-साहित्य और स्वयं महाभारत इस बातका सबूत है कि एक तीसरा सम्बन्ध भी है। यह प्रेमका सम्बन्ध है। अगर ऐसा न होता तो कमल-

पत्रपर विराजमान वलाका (वक-पंक्ति), जो मरकत मणिके पात्रमें रखी हुई शंख-शुक्तिके समान दीख रही है, अकारण मानव-हृदयमें आनन्दोद्रेक न कर सकती—

उअ णिच्चल-णिप्फंदा भिसिणी-पत्तम्मि रेहइ वलाआ।
णिम्मल-मरगअ-भाअण-परिट्ठिआ संखसुत्तिव्व ॥

(हाल सत्तसई. १-४).

तपोनिरता पर्वत-कन्या जब कड़ाकेकी सर्दीमें जल-वास करती होतीं, तो दूरसे एक दूसरेको पुकारनेवाले चक्रवाक-दम्पतिके प्रति अहेतुक कृपावती न हो जातीं (कुमार संभव ५-२६) धानसे लहराते हुए, मृगांगनाओंसे अध्युषित और क्रौंच पक्षीके मनोहर निनादसे मुखरित सीमान्तकेकाके साथ मनुष्यके चित्तको इतना चंचल न कर सकते (ऋतु० ३) और न ऐसी नदियाँ, जिनकी कांची क्रौंचोंकी श्रेणी है, जिनका कलस्वन कलहंसोंका निनाद है, जिनकी साड़ी जलधारा है, जिनके कानके आभरण तीर-द्रुमके पुष्प हैं, जिनका श्रोणीमण्डल जल-स्थलका संगम है, जिनके उरस्य उन्नत पुलिन हैं, जिनकी मुसकान हंसश्रेणी है, ऐसी नदियोंके तटपर ही देवता रमण कर सकते हैं—यह बात ही मनुष्यके मनमें आ पाती :—

क्रौंचकांचीकलापाश्च कलहंसकलस्वनाः
नद्यस्तोयांशुका यत्र शफरीकृतमेखलाः ॥
फुल्लतीरद्रुमोत्तंसाः सङ्गमश्रोणिमण्डलः।
पुलिनाभ्युन्नतोरस्याः हंसहासाश्चनिम्नगाः।
वनोपान्तनदीशैलनिर्झरोपान्तभूमिषु।
रमन्ते देवता नित्यं पुरेषूद्यानवत्सु च।

(बृहत्संहिता, ५६-६६)

अन्तःपुरसे बाहर निकलने पर राजकुलके प्रथम प्रकोष्ठमें भी बहुतेरे पक्षियोंसे भेंट हो जाती है। इसमें कुक्कुट (मुर्गे), कुरक, कपिंजल, लावक और वार्तिक नामक पक्षी हैं, जिनकी लड़ाईसे नागरिकोंका मनोविनोद हुआ करता था (कादम्बरी, पृ० १७३)। इसी प्रकोष्ठमें चकोर, कादम्ब (एक हंस), हारीत और कोकिलकी भी आवाज सुनाई दे जाती थी, और शुकसारिकाओंकी मजेदार बातें भी कर्णगोचर हो जाती थीं। वात्स्यायनने कामसूत्र (पृ० ४७) में नागरिकोंको भोजनके बाद शुक-सरिकाका आलाप तथा लाव कुक्कुट और मेषोंके युद्धके देखनेकी व्यवस्था की

है। भोजनके बाद तो प्रत्येक प्रतिष्ठित नागरिक इन क्रीड़ाओंको अपने मित्रों-सहित देखता ही था।

२९—उद्यान-यात्रा

उद्यान-यात्राओंके समय इसका महत्व बहुत बढ़ जाता था। निश्चित दिनको पूर्वाह्नमें ही नागरिकगण सज-धज कर तैयार हो जाते थे। घोड़ोंपर चढ़कर जब वे किसी दूरस्थित उद्यानकी ओर—जो एक दिनमें पहुँचने लायक दूरीपर हुआ करता था—चलते थे, तो उनके साथ पालकियोंपर या बहलियोंमें वारवधूटियाँ चला करती थीं और पीछे परिचारिकाओंका झुण्ड चला करता था। इन उद्यान-यात्राओंमें कुक्कुट, लाव और मेष-युद्धका आयोजन होता था, हिंडोल-विलासकी व्यवस्था रहा करती थी और यदि ग्रीष्मका समय हुआ तो जलक्रीड़ा भी होती थी (कामसूत्र पृ० ५३)।

कभी-कभी कुमारियाँ और विवाहित महिलाएँ भी उद्यान-यात्राओंमें या तो पुरुषोंके साथ या स्वतन्त्र रूपसे शामिल होती थीं। पर कामसूत्रपर अगर विश्वास किया जाय, तो इन यात्राओंमें लड़कियोंका जाना सब समय निरापद नहीं होता था—विशेष करके जब कि वे स्वतन्त्र रूपसे पिकनिकके लिये निकली हुई हों। असच्चरित्र पुरुष प्रायः बालिकाओंका अपहरण करते थे। इन उद्यान-यात्राओंमें जब दो प्रतिद्वन्द्वी नागरिकोंके मेष या लाव या कुक्कुट जूझते थे, तब प्रायः बाजी लगाई जाती थी और उस समय दोनों पक्षोंमें बड़ी उत्तेजनाका सञ्चार हो जाया करता था। कभी-कभी छोटी-मोटी लड़ाइयाँ भी जरूर हो जाती रही होंगी। कामसूत्रमें मेष, कुक्कुट और लावोंके युद्धको तथा शुक-सारिकाओंके साथ आलाप करने-करानेको ६४ कलाओंमें गिना गया है (साधारणाधिकरण, तृतीय)।

३०—शुक और सारिका

शुक-सारिकाएँ केवल विलासी नागरिकोंके बहिर्द्वारपर ही नहीं मिलती थीं, बड़े-बड़े पण्डितोंके घरोंकी शोभा भी बढ़ाती थीं। शंकराचार्यको मण्डन मिश्रके

घरका मार्ग बताते समय स्थानीय परिचारिकाने कहा था, जहाँ शुक-सारिकाएँ 'स्वतः प्रमाणं' 'परतः प्रमाणं' का शास्त्रार्थ कर रही हों, वही मंडन मिश्रका द्वार है—"स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीरांगना यत्र गिरो गिरन्ति।" सुप्रसिद्ध कवि बाणभट्टने अपने पूर्व-पुरुष कुबेरभट्टका परिचय देते हुए बड़े गर्वसे लिखा है कि उनके घरके शुकों और सारिकाओंने समस्त वाङ्मयका अभ्यास कर लिया था, और यजुर्वेद और सामवेदका पाठ करते समय पद-पदपर ये पक्षी विद्यार्थियोंकी गलतियाँ पकड़ा करते थे :

जगुर्गृहेऽभ्यस्तसमस्तवाङ्मयैः,
ससारिकैः पंजरवर्तिभिः शुकैः
निगृह्यमाणाः बटवः पदे पदे
यजूंषि सामानि च यस्य शंकिताः ॥
(कादम्बरी, १२)

ऋषियोंके आश्रममें भी शुक-सारिकाओंका वास था। किसी वृक्षके नीचे शुक-शावकके मुखसे गिरे हुए नीवार (वन्य-धान) को देखकर ही दुष्यन्तको यह समझनेमें देर नहीं लगी थी कि यहाँ किसी ऋषिका आश्रम है (शाकुन्तला, १-१४)।

वस्तुतः शुक-सारिका उस युगमें अन्तःपुरसे लेकर तपोवन तक सर्वत्र सम्मानित होते थे। मनुष्यके सुख-दुःखके साथ उनका सुख-दुःख इस प्रकार गुँथा हुआ था कि एकको दूसरेसे अलग नहीं किया जा सकता। अमरुकशतकमें एक बड़ा ही मर्मस्पर्शी दृश्य है; जब कि मानवती गृहदेवीके दुःखसे दुःखी होकर प्रिय बाहर नखसे जमीन कुरेद रहा है, सखियोंने खाना बन्द कर दिया है, रोते-रोते उनकी आँखें सूज गई हैं और पिंजड़ेके सुग्गे अज्ञात वेदनाके कारण हँसना-पढ़ना बन्द किए सारे व्यापारको समझनेकी चेष्टा कर रहे हैं:—

लिखन्नास्ते भूमिं वहिरवनतः प्राणदयितः
निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः।
परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पंजरशुकैः
तवावस्था चेयं विसृज कठिने मानमधुना ॥
(अमरुक-शतक)

इसी प्रकार अमरुक-शतकमें एक अत्यन्त सरस और स्वाभाविक प्रसंग

आया है। रातको दम्पतीने जो प्रेमालाप किया उसे नासमझ शुक ज्योंका-त्यों प्रातःकाल गुरुजनोंके सामने ही दुहराने लगा। बिचारी बहू लाजों गड़ गई। और कोई उपाय न देखकर उसने अपने कर्णफूलमें लगे लाल पद्मराग मणिको ही शुकके सामने रख दिया और वह उसे पका दाड़िम समझकर उसीमें उलझ गया। इस प्रकार किसी भाँति उस दिनकी लाज बच पाई और वाचाल सुग्गेका वाग्रोध किया जा सका :—

> दम्पत्योर्निशि जल्पतोर्गृहशुकेनाकर्णितं यद्वचः
> तत्प्रातर्गुरुसन्निधौ निगदतः श्रुत्वैव तारं वधू।
> कर्णालम्बितपद्मरागशकलं विन्यस्य चञ्च्वोः पुरं
> क्रीड़ार्ता प्रकरोति दाड़िमफलव्याजेन वाग्रोधनम् ॥

शुभाशुभ जाननेके लिये उन दिनों कई पक्षियोंकी गति-विधिपर विशेष ध्यान दिया जाता था। वस्तुतः शकुन (हिन्दी 'सगुन') शब्दका अर्थ ही पक्षी है। इन शकुन-निर्देशक पक्षियोंके कारण संस्कृत-साहित्यमें एक अत्यन्त सुकुमार भावका प्रवेश हुआ है, और साहित्य इससे समृद्ध हो गया है। वराहमिहिरकी बृहत्संहितामें निम्नलिखित पक्षियोंको शकुन-सूचक पक्षी कहा गया है—श्यामा, श्येन, शशघ्न, वंजुल, मयूर, श्रीकर्ण, चक्रवाक, चाष, भाण्डीरक, खंजन, शुक, काक, तीन प्रकारके कपोत, भारद्वाज, कुलाल, कुक्कुट, खर, हारीत, गृध्र, पूर्णकूट और चटक (बृ० सं० ८८।१)

संस्कृत-साहित्यसे इन पक्षियोंके शकुनके कारण बड़ी-बड़ी घटनाओंके हो जानेका परिचय मिलता है। कभी-कभी शकुन-मात्रसे भावी राज्यक्रान्तिका अनुमान किया गया है और उसपरसे सारे प्लाटका आयोजन हुआ है। शकुन-सूचक पक्षियोंके कारण सूक्तियाँ भी खूब कही गई हैं।

३१—शकुन-सूक्ति

ऋतु-विशेषके अवसरपर पक्षी-विशेषका प्रादुर्भाव और उसका हृदय ढालकर किया हुआ वर्णन संस्कृत साहित्यकी बेजोड़ सम्पत्ति है। भारतवर्षमें एक ही समय नाना प्रदेशोंमें ऋतुका-विभेद रहता है। फिर गर्मी और सर्दीके घटते-बढ़ते रहनेसे एक ही वर्षमें कई बार ऋतु-परिवर्तन होता है। भिन्न-भिन्न ऋतुओंमें नये-नये

पक्षी इस देशमें छा जाया करते हैं। संस्कृतके कवियोंने इन अतिथियोंका ऐसा मनोहर स्वागत किया है कि पाठक उन्हें कभी भूल नहीं सकता। वलाकाको उत्सुक कर देनेवाली, मयूरको मद-विह्वल बना देनेवाली, चातकको चंचल कर देनेवाली और चकोरकी हर्ष-वर्षसे सेचन करनेवाली वर्षा गई नहीं कि खंजरीट, कादम्ब, कारण्डव, चक्रवाक, सारस तथा क्रौञ्चकी सेना लिए हुए शरद् आ गई :—

सखंजरीटाः सपयःप्रसादा सा कस्य नो मानसमाच्छिनत्ति।
कादम्बकारण्डवचक्रवाकससारसक्रौंचकुलानुपेता ।

(काव्यमीमांसा, पृ० १०१)

फिर वसन्त तो है ही, शुक-सारिकाओंके साथ हारीत, दात्यूह, (महुअक), और भ्रमर श्रेणीके मदको वर्धन करनेवाला और पुंस्कोकिलके मधुर कूजनसे चित्त चंचल कर देनेवाला !

चैत्रे मदर्द्धिः शुकसारिकाणां हारीतदात्यूहमधुव्रतानाम्।
पुंस्कोकिलानां सहकारबन्धुः मदस्य कालः पुनरेष एव ॥

(काव्यमीमांसा, पृ० १०५)

ऋतुओंके प्रसंगमें कवियोंने बहुत अधिक पक्षियोंका बड़ी सहृदयताके साथ वर्णन किया है।

इन पक्षियोंमेंसे कुछ ऐसे थे जो प्रेम-संदेशके वाहक माने जाते थे। हंससे यह काम प्रायः लिया गया है, पर हंस वास्तवमें रोमांसको औत्सुक्यमण्डित करनेवाले कल्पित मूल्योंका पक्षी है। पारावत या कबूतर इस कार्यको सचमुच ही करते थे। आज भी इन पक्षियोंको इस कार्यके लिए नियुक्त किया जाता है। विज्ञानने इनको और भी उपयोगी बना दिया है। पर पत्र ले जानेका काम ये अवश्य करते थे।

३२—सुकुमार कलाओंका आश्रय

जैसा कि ऊपर बताया गया है, ये अन्तःपुर सब प्रकारकी सुकुमार कलाओंके आश्रय रहे हैं। यह तो कहना ही व्यर्थ है कि साधारण नागरिकोंके अन्तःपुर उतने समृद्ध नहीं होते होंगे पर सभ्रान्त व्यक्तियोंके अन्तःपुर निश्चय ही सुकुमार कलाओंके आश्रयदाता थे।

मृच्छकटिक नाटकमें एक छोटा-सा वाक्य आता है जो काफी अर्थपूर्ण है। इस नाटकके नायक चारुदत्तका एक पुराना संवाहक या भृत्य था जिसने संवाहन-कला अर्थात् शरीर दबाने और सजानेकी विद्या सीखी थी। उसने दरिद्रतावश नौकरी कर ली थी। यही संवाहक अपने मालिक चारुदत्तकी दरिद्रताके कारण नौकरी छोड़-कर जुआ खेलनेका अभ्यासी हो गया। एक बार चारुदत्तकी प्रेमिका गणिका वसन्तसेनाने उसकी विद्याकी प्रशंसा करते हुए कहा कि भद्र, तुमने बहुत सुकुमार कला सीखी है, तो उसने प्रतिवाद करके कहा—'नहीं आर्ये, कला समझकर सीखी जरूर थी, पर अब तो वह जीविका हो गई है।' इस कथनका अर्थ यह हुआ कि जीविका उपार्जनके काममें लगाई हुई विद्या कलाके सुवर्ण-सिंहासनसे विच्युत मान ली जाती थी। यही कारण था कि धनहीन नागरिक-गण सर्वकला-पारंगत होने-पर नागरकके ऊँचे आसनसे उतरकर विट होनेको बाध्य होते थे। संवाहकका कार्य भी जो एक कला है यह अन्तःपुरमें ही प्रकट होती थी। अन्तःपुरिकाओंके वेश-विन्यासमें इस कलाका पूर्ण उपयोग होता था। संभ्रान्त परिवारोंमें अनेक संवाहि-काएँ होती थीं जो गृहस्वामिनीका चरण-सम्वाहन भी करती थीं और नाना आभर-णोंसे उस छविगृहको दीपशिखासे जगमग करनेका कार्य भी करती थीं। नागरिकोंको भी संवाहन आदि कर्म सीखने पड़ते थे। वियोगिनी प्रियतमासे हठात् मिलन होने-पर शीतल क्लम-विनोदन व्यजनकी पंखेकी मीठी-मीठी हवा जिस प्रकार आवश्यक होती थी उसी प्रकार कभी-कभी यह भी आवश्यक हो जाता था कि प्रियाके लाल-लाल कमल कोमल चरणोंको गोदमें रखकर इस प्रकार दबाया जाय कि उसे अधिक दबावका क्लेश भी न हो और विरह-विधुर मजातंतुओंको प्रियके करतल-स्पर्शका अमृतरस भी प्राप्त हो जाय! इसीलिये नागरकको ये कलाएँ जाननी पड़ती थीं। राजा दुष्यन्तने वियोगिनी शकुन्तलासे दोनों ही प्रकारकी सेवाकी अनुज्ञा माँगी थी:—

> किं शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवातैः
> संचालयामि नलिनीदलतालवृन्तम् ।
> अङ्के निधाय चरणावुत पद्मताम्रौ
> संवाहयामि करभोरु यथासुखं ते ॥
>
> (शकुन्तला, तृतीय अंक)

३३—बाहरी प्रकोष्ठ

नागरकके विशाल प्रासादका बहि:प्रकोष्ठ, जिसमें नागरक स्वयं रहा करता था बहुत ही शानदार होता था। उसमें एक शय्या पड़ी रहती थी जिसके दोनों सिरोंपर दो तकिया या उपाधान होते थे और ऊपर सफेद चादर या प्रच्छद-पट पड़े होते थे। यह बहुत ही नर्म और बीचमें झुका हुआ होता था। इसके पास ही कभी-कभी एक दूसरी शय्या (प्रतिशय्यिका) भी पड़ी होती थी, जो उससे कुछ नीची होती थी। शय्या बनानेमें बड़ी सावधानी बर्ती जाती थी। साधारणतः असन, स्यन्दन, हरिद्र, देवदारु, चन्दन, शाल आदि वृक्षोंके काष्ठसे शय्याएँ बनती थीं, पर इस बातका सदा खयाल रखा जाता था कि चुना हुआ काष्ठ ऐसे किसी वृक्षसे न लिया गया हो जो वज्रपातसे गिर गया था या बाढ़के धक्केसे उखड़ गया था, या हाथीके प्रकोपसे धूलिलुण्ठित हो गया था, या ऐसी अवस्थामें काटा गया था जब कि वह फल-फूलसे लदा या पक्षियोंके कलरवसे मुखरित था, या चैत्य या श्मशानसे लाया गया था या सूखी लतासे लिपटा हुआ था (बृ० सं० ७१-३)। ऐसे अमंगलजनक और अशुभ वृक्षोंको पुराना भारतीय रईस अपने घरके सबसे अधिक सुकुमार स्थानपर नहीं ले जा सकता था। वराहमिहिरने ठीक ही कहा है कि राज्यका सुख गृह है, गृहका सुख कलत्र है और कलत्रका सुख कोमल और मंगलजनक शय्या है। सो शय्या गृहस्थका मर्मस्थान है। चन्दनका खाट सर्वोत्तम माना जाता था, तिंदुक, शिंशपा, देवदारु, असनके काठ अन्य वृक्षोंके काठसे नहीं मिलाए जाते थे। शाक और शालक मिश्रण शुभ हो सकता था, हरिद्रक और पदु-मकाठ अकेले भी और मिलकर भी शुभ ही माने जाते थे। चारसे अधिक काष्ठोंका मिश्रण किसी प्रकार पसन्द नहीं किया जाता था। शय्यामें गजदन्तका लगाना शुभ माना जाता था। पर शय्याके लिये गजदन्तका पत्तर काटना बड़ा भावाजोखीका व्या-पार माना जाता था। उस दन्तपत्रके काटते समय भिन्न-भिन्न चिह्नोंसे भावी मंगल या अमंगलका अनुमान किया जाता था। खाटके पायोंमें गाँठ या छेद बहुत अशुभ समझे जाते थे। इस प्रकार नागरकके खाटकी रचना एक कठिन समस्या हुआ करती थी (बृ० सं० ७६ अ०)। यह तो स्पष्ट है कि आजके रईसकी भाँति आर्डर देकर कोच और सोफेकी व्यवस्थाको हमारा पुराना रईस एकदम पसन्द नहीं करता होगा। बृहत्संहितासे यह भी पता चलता है कि खाट सब श्रेणीके आदमियोंके लिये बराबर

एक जैसे ही नहीं बनते थे। भिन्न-भिन्न स्टेटसके व्यक्तियोंके लिये भिन्न-भिन्न माप-की शय्याएँ बनती थीं। शय्याके सिरहाने कूर्च-स्थानपर नागरकके इष्ट देवताकी कलापूर्ण मूर्ति रहती थी और उसके पास ही वेदिकापर माल्य चन्दन और उपलेपन रखे होते थे। इसी वेदिकापर सुगन्धित मोमबत्तीकी पिटारी (सिक्थ-करण्डक) और इत्रदान (सौगन्धिक पुटिका) रखा रहता था। मातुलुंगके छाल और पानके बीड़ोंके रखनेकी जगह भी यही थी। नीचे फर्शपर पीकदान या पतद्ग्रह रखा होता था। ऊपर हाथीदाँतकी खूँटियोंपर कपड़ेके थैलेमें लिपटी हुई वीणा रहती थी, चित्रफलक हुआ करता था, तूलिका और रंगके डिब्बे रखे होते थे, पुस्तकें सजी होती थीं और बहुत देरतक ताजी रहनेवाली कुरण्टक माला भी लटकती रहती थी। दूर एक आस्तरण (दरी) पड़ा रहता था जिसपर द्यूत और शतरंज खेलनेकी गोटियाँ रखी होती थीं। उस कमरेके बाहर क्रीड़ाके पक्षियों अर्थात् शुक, सारिका, लाव, तित्तिर, कुक्कुट आदिके पिंजड़े हुआ करते थे। शार्विलक नामक चोर जब चारुदत्तके घरमें घुसा था तो उसने आश्चर्यके साथ देखा था कि उस रसिक नागरकके घरमें कहीं मृदंग, कहीं दर्दुर, कहीं पणव, कहीं बंशी और कहीं पुस्तकें पड़ी हुई थीं। एकबार तो वह य. भी सोचने लगा था कि यह किसी नाट्याचार्यका घर तो नहीं है। क्योंकि ये वस्तुएँ एक ही साथ केवल दो स्थानोंपर सम्भव थीं—धनी नागरकके बैठक-गृहमें या फिर उस नाट्याचार्यके गृहमें जिसने कलाको आजीविका बना ली हो। चोरने घरकी दशासे सहज ही यह अनुमान कर लिया था कि धनी आदमीका घर तो यह होनेसे रहा, नाट्याचार्यका हो तो हो भी सकता है।

३४—वीणा

वीणा और चित्रफलक ये दो वस्तुएँ उन दिनोंके सहृदयके लिये नितान्त आवश्यक वस्तु थीं। चारुदत्तने ठीक ही कहा था कि वीणा जो है सो असमुद्रोत्पन्न रत्न है, वह उत्कंठितकी संगिनी है, उकताए हुएका विनोद है, विरहीका ढाढ़स है और प्रेमीका रागवर्धक प्रमोद है—

उत्कंठितस्य हृदयानुगुणा वयस्या
संकेतके चिरयति प्रवरो विनोदः।

संस्थापना प्रियतमा विरहातुराणां
रक्तस्य रागपरिवृद्धिकरः प्रमोदः॥ (मृच्छकटिक ३-४)

उन दिनोंका सहृदय नागरक अपनी प्राणप्रियाके समान ही यदि किसी दूसरी वस्तुको अपनी अंक-लक्ष्मी बना सकता था तो वह उसकी वीणा ही थी। कालिदास-ने विलासी अग्निवेशके वर्णनके प्रसंगमें कहा है कि दो वस्तुएँ बारी-बारीसे उसकी गोदको अशून्य बनाए रहती थीं,—हृदयंगम ध्वनिवाली वीणा या मधुरवचन बोलने-वाली प्रिया—

अङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिते तस्यनिन्यतुरशून्यतामुभे।
वल्लकी च हृदयंगमस्वना वल्गुवागपि च वामलोचना॥ रघु० १६।१३

अजन्ताके भित्ति चित्रोंमें इस प्रकारकी अंक-लक्ष्मी वीणा और प्रियाका एक मनोहर चित्र है।

पुरानी कहानियोंमें वीणासंबंधी रोमांसों और अद्भुत रसवाली कथाओंकी प्रचुरता है। उदयनकी कुंजर-मोहिनी वीणा तो प्रसिद्ध ही है, वासवदत्ताको उदयन-ने ही वीणा-वादनकी विद्या सिखाई थी। बौद्ध जातक-कथाओंमें मूसिल नामक वीणावादक और उसके गुरु गुत्तिलकुमार नामक गंधर्वकी वीणा प्रतियोगिताकी बड़ी सुंदर कथा आती है। शिष्यने राजासे कहकर गुरुको ही हरानेका संकल्प किया था पर इन्द्रकी कृपासे गुत्तिलने ऐसी वीणा बजाई कि मूसिलको हारना पड़ा। गुत्तिलकी वीणामें सात तार थे। वह एक-एक तार तोड़ता गया और बचे तारोंसे ही मनो-मोहक ध्वनि निकालने लगा। तार तोड़ते-तोड़ते वह अन्तिम तार भी तोड़ गया और अन्तमें केवल काष्ठ दण्डको ही बजाता रहा। उसमें उसने कमाल किया। उस्तादकी सधी अंगुलियोंने काठमें ही झंकार पैदा कर दिया। फिर स्वर्गलोकसे अप्स-राएँ उतरकर नाचने लगीं। इस और ऐसी ही अन्य कथाओंसे इस यंत्रकी मधुर विद्याकी महिमा और लोकप्रियता प्रकट होती है। सचमुच ही वीणा 'असमुद्रो-त्पन्न रत्न' है।

प्राचीन काव्य-साहित्यमें इसकी इतनी चर्चा है कि सबका संग्रह कर सकना बड़ा कठिन कार्य है। सरस्वती-भवनसे लेकर कामदेवायतन तक और सुहाग-शयनसे शिव मन्दिर तक सर्वत्र इसकी पहुँच है। पुराने बौद्ध साहित्यसे इस बातका भी सबूत मिल जाता है कि इस यंत्रके साथ गाया जानेवाला अत्यंत लौकिक शृंगार रसकी गाथाओंने बुद्धदेव जैसे वीतराग महात्माके मनको भी पिघला दिया था। पंचशिख नामक गंधर्वने जो

तुंबुरु-कन्या सूर्यवर्चसाका प्रेमी था परन्तु प्रेमिकाके अन्यत्र रम जानेसे प्रेमव्यापारमें असफल बन गया था, जब भगवान् बुद्धकी समाधि भंग करनेके लिये अपनी वीणापर अपनी करुण वेदना गाई तो भगवान्का चित्त सचमुच ही द्रवित हो गया, उन्होंने दाद देते हुए कहा था—'पंचशिख, तुम्हारे बाजेका स्वर तुम्हारे गीतके स्वरसे बिल्कुल मिला था और तुम्हारे गीतका स्वर बाजेके स्वरसे मिला था, न वह इधर ज्यादा झुका था न यह उधर!' पंचशिखने भगवान्की इस स्तुतिको सुनकर निश्छल भावसे अपनी कथाकी कहानी सुना दी थी (दीर्घनिकाय)। सो इस प्रकार इतिहास साक्षी है कि वीणाने वैरागीके चित्तको द्रवित किया था!

कामसूत्रसे जान पड़ता है कि उन दिनों गन्धर्वशालामें प्रत्येक नागरकके लड़केको जो बात सीखना ज़रूरी थी उनमें सर्वप्रधान हैं गीत, नाट्य, नृत्य और आलेख्य। वाद्यमें वीणा, डमरू और वंशीका उल्लेख है। डमरू भारतवर्षका पुरातन वाद्य है, उसीका विकास मृदंग रूपमें हुआ है। कहते हैं कि मृदंग संसारका सर्वोत्तम वैज्ञानिक वाद्य है।

३५—अन्तःपुरका शयनकक्ष

ऊपर नागरकके बहिःप्रकोष्ठका जो वर्णन दिया गया है वह वात्स्यायनके कामसूत्रके आधारपर है। यह वर्णन वास्तविक है, पर उक्त आचार्यने अन्तःपुरके भीतरके शयनकक्षका ऐसा ब्यौरेवार वर्णन नहीं दिया है। इसीलिये उसकी जानकारीके लिये हमें कल्पना-प्रधान काव्यों और आख्यायिकाओंका सहारा लेना पड़ेगा। सौभाग्यवश काव्यकी अतिशयोक्तियों और आलंकारिकताओंको छाँटकर निकाल देनेसे जो चित्र हमारे सामने उपस्थित होता है उसका समर्थन कई और मूलोंसे हो जाता है। प्राचीन प्रासादोंका जो उद्धार हुआ है उनसे यह चित्र मिल जाता है और उपयोगी कला सिखानेके उद्देश्यसे जो पुस्तकें लिखी गई हैं उनसे भी उसका समर्थन प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार निःसंकोच रूपसे कहा जा सकता है कि काव्योंके वर्णन तथ्यपर ही आश्रित हैं।

अन्तःपुरके शयनकक्षमें जो शय्या पड़ी रहती थी उसके पास कोई और प्रतिशय्यिक या अपेक्षाकृत नीची शय्या रहती थी या नहीं इसका कोई उल्लेख हमें काव्योंमें नहीं मिला है। कादम्बरीका पलंग बहुत बड़ा नहीं था, वह एक

नीची चादर और धवल उपधान (सफेद तकिया) से समाच्छादित था। कादम्बरी उस शय्यापर वाम बाहुलताको ईषद् वक्र भावसे तकियापर रख अधलेटी अवस्थामें परिचारिकाओंको भिन्न-भिन्न कार्य करनेका आदेश दे रही थी। यह तो नहीं बताया गया है कि किसी इष्ट देवताकी मूर्ति वहाँ थी या नहीं, पर वेदिकापर ताम्बूल और सुगन्धित उपलेपन अवश्य थे। दीवालोंपर इतने तरहके चित्र बने थे कि चन्द्रापीड़-को भ्रम हुआ था कि सारी दुनिया ही कादम्बरीकी शोभा देखनेके लिये चित्र रूपमें सिमट आई थी। दीवालोंके ऊपरी भागपर कल्पवल्लीके चित्रका भी अनुमान होता है, क्योंकि सैकड़ों कन्याओंने उस कल्पवल्लीके समान ही कादम्बरीको घेर लिया था। छतमें अधोमुख विद्याधरोंके मनोहर चित्र अंकित थे। नील चादरके ऊपर श्वेत तकियेका सहारा लेकर अर्द्धशायित कादम्बरी महावराहके श्वेत दन्तका आश्रय ग्रहण की हुई धरित्रीकी भाँति मोहनीय दीख रही थी। काव्य-ग्रन्थोंके पढ़नेसे स्पष्ट हो जाता है कि केवल नीली ही नहीं, नाना रंगोंकी और विना रंगकी भी चादरें शय्याके आस्तरणके लिये व्यवहृत होती थीं। ताम्बूल और अलक्तकसे रँगी चादरें सखियोंके परिहासका मसाला जुटाया करती थीं।

३६—कल्पवल्ली

भरहुतमें (द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व) नाना भाँतिकी कल्पवल्लियोंका संधान पाया गया है। इसपरसे अनुमान किया जा सकता है कि दीवालों और छतोंकी धरनोंपर अंकित कल्पवल्लियाँ कैसी बनती होंगी। इन वल्लियोंमें नाना प्रकारके आभू-षण, वस्त्र, पुष्प, फल, मुक्ता, रत्न आदि लटके हुए चित्रित हैं। उन दिनोंके काव्य-नाटकोंके समान ही शिलामें भी कल्पवल्लियोंकी प्रचुरता है।

भरहुतकी कई कल्पवल्लियाँ इतनी अभिराम हैं कि किसी-किसीने यह अनुमान लगाया है कि किसी बड़े कल्प कविकी मनोरम कल्पनाको देखकर ही तो चित्र बने हैं। वह कल्प कवि कालिदास ही माने गए हैं। यह बात तो विवादास्पद है, परन्तु कंठी, हार, कनकमाला, और कर्णवेष्टनवाली कल्पलताओंको और कुरवकके पंच पुष्पों और क्षौम वस्त्रोंवाली कल्पलताओंको देखकर बरबस कालिदासकीक विता याद आ जाती है। शकुन्तलाके लिये कण्वको वन-देवताओंने जो उपहार दिए थे उनका वर्णन करते हुए महाकविने कहा है कि किसी वृक्षने शुभ मांगलिक वस्त्र दे दिया

किसीने पैरमें लगानेकी महावर दे दी और वन देवियोंने तो अपने कोमल हाथोंसे ही अनेक आभरण दिए—कोमल हाथ जो वृक्षोंके किसलयोंसे प्रतिद्वंद्विता कर रहे थे—

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणामाङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापार्वभागोत्थितै—
र्दत्तान्याभरणानि तत् किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः ॥

(शकुन्तला ४. ५.)

भरहुतकी एक कल्पवल्लीमें सचमुच ही एक वनदेवीका किसलयप्रतिद्वंद्वी हाथ निकल आया है। ऐसा जान पड़ता है कि उन दिनों यह भावना बहुत व्यापक थी। बोधगयासे भी इसी समयका अन्नपानदानशील हाथोंवाला एक कल्पवृक्ष मिला है जो मेघदूतके इस श्लोककी याद दिलाता है :

वासश्चित्रं मधुनयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं
पुष्पोद्भेदं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पान्।
लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्या—
मेकःसूते सकल ललनामण्डनं कल्पवृक्षः।

(मेघ २. १२)

बाघकी गुफाओंमें—मुंडेरोंपर सुन्दर कल्पवल्लियाँ पाई गई हैं जिनकी शोभा अनुपम बताई जाती है।

उन दिनों इन वल्लियोंका अभ्यन्तर गृहमें होना मांगल्य समझा जाता था। विद्याधरोंके तो अनेक चित्र नाना स्थानोंसे उद्धार किए गए हैं। अभिलषितार्थ-चिन्तामणि आदि ग्रन्थोंमें इस भाँतिकी चित्रकारीका विशद वर्णन दिया हुआ है।

३७—भित्ति-चित्र

समृद्ध लोगोंके घरकी दीवालें स्फटिक मणिके समान स्वच्छ और दर्पणके समान चिकनी हुआ करती थीं। इनके ऊपर 'सूक्ष्म-रेखा-विशारद' कलाकार, जो 'विद्युत्-निर्माण' में कुशल हुआ करते थे, पत्र-लेखनमें कोविद होते थे, वर्णपूरण या रंग भरनेकी कलाके उस्ताद हुआ करते थे (३-१३४) नाना रसके चित्र

अंकित करते थे। दीवालको पहले समान करके चूनेसे बनाया जाता था और फिर उसपर एक लेप-द्रव्य लगाते थे जो भैंसके चमड़ेको पानीमें घोंटकर बनाया जाता था। इससे एक प्रकारका ऐसा वज्रलेप बनाया जाता था जो गर्म करनेपर पिघल जाता था और दीवालमें लगाकर हवामें छोड़ देनेसे सूख जाता था (३-१४६)। वज्रलेपमें सफेद मिट्टी मिलाकर या शंख-चूर्ण और सिता (मिश्री) डालकर भित्तिको चिकनी करते थे (३-१४) या फिर नीलगिरिमें उत्पन्न नग नामक सफेद पदार्थको पीसकर उसमें मिलाते थे। रंगकी स्थायिताके लिये भी नाना प्रकारके द्रव्योंके प्रयोगकी बात पुराने ग्रन्थोंमें लिखी हुई है। विष्णुधर्मोत्तरके अनुसार तीन प्रकारके ईंटके चूर्ण, साधारण मिट्टी, गुग्गुलु, मोम, महुएका रस, मुसक, गुड़, कुसुम तेल और चूनेको घोंटकर उसमें दो भाग कच्चे बेलका चूर्ण मिलाते थे। फिर अन्दाजसे उपयुक्त मात्रामें बालुका देकर भीतपर एक महीने तक धीरे-धीरे पोतते थे। इस प्रकारकी और भी बहुतेरी विधियाँ दी हुई हैं जो सब समय ठीक-ठीक समझमें नहीं आतीं। भीत ठीक हो जानेपर उसपर चित्र बनाए जाते थे।

बाघकी गुहाओंके प्रसिद्ध भित्ति-चित्रोंसे इस कौशलका कुछ अन्दाजा लग सकता है। चित्र बनानेके आधार यहाँ पत्थर हैं। पहले दीवारोंको छेनीसे खुरखुरा बनाया गया है, फिर उनपर चूने और गारेका महीन पलस्तर चढ़ाया गया है। इसकी बारीकीका अन्दाजा इसीसे लगाया जा सकता है कि ऊपरकी खिंची आकृतियाँ प्रायः उसी प्रकार नीचे भी उतर आई हैं और जहाँसे पलस्तर हो गया है वहाँ भी आकृतियाँ स्पष्ट समझमें आ जाती हैं। इन चित्रोंमें रंगकी ऐसी बहार है कि हजारों वर्ष बाद भी दर्शक देखकर अवाक् हो जाता है। अजन्ताके समान ही बाघकी गुहाओंके भित्ति-चित्रोंने कला-पारखियोंको आकृष्ट किया है।

चित्रोंमें कई प्रकारके रंग काममें लाए जाते थे। घने बाँसकी नालिकाके आगे तामेका सूच्यग्र शंकु लगाते थे जो जौ भर भीतर और इतना ही बाहर रहता था। इसे तिन्दुक कहते थे। तूलिकामें बछड़ेके कानके पासके रोएँ लगाए जाते थे और चित्रणीय रेखाओंके लिये मोम और भातमें काजल रगड़कर काला रंग बनाते थे। वंशनालीके आगे लगे हुए-ताम्रशंकुसे महीन रेखा खींचनेका कार्य किया जाता था। चित्र केवल रेखाओंके भी होते थे और रेखाओंमें रंग भरकर भी बनाए जाते थे। 'लाइट और शेड' की भी प्रथा थी। अभिलषितार्थमें कहा गया है कि जो स्थान निम्नतर हो वहाँ एकरंगे चित्रमें श्यामलवर्ण होना चाहिए और जो स्थान उन्नत

हो वह उज्वल या फीके रंगका। रंगीन चित्रोंमें नाना प्रकारके रंगोंका विन्यास करते थे। श्वेत रंग शंखको चूर्ण करके बनाया जाता था, शोण दरदसे, रक्त (लाल) अलक्तकसे, लोहित गेरूसे, पीत हरितालसे, और काला रंग काजलसे बनता था। इनके मिश्रणसे, कमल, सौराभ (?) घोरात्व (?) धूमच्छाय, कपोताश्व, अतसी-पुष्पाभ, नीलकमलके समान, हरित, गौर, श्याम, पाटल, कर्वुर आदि अनेक मिश्र रंग बनते थे।

नाट्यशास्त्र (२३-७३-७७) में नेपथ्यरचनाके सिलसिलेमें बताया गया है कि किन रंगोंके मिश्रणसे कौन-कौनसे रंग बनते थे। श्वेत और नीलके मिश्रणसे 'पाण्डु', सित और रक्तवर्णके योगसे 'पद्म' वर्ण बनता है, पीत और नीलके मिश्रणसे 'हरित' वर्ण बनता है, नील और रक्तवर्णोंके योगसे 'कषाय' रंग बनता है, रक्त और पीत वर्णोंके योगसे 'गौर' वर्ण बनता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न वर्णोंके योगसे नये-नये रंग बनते हैं। शास्त्रकारका मत है कि सब वर्णोंमें बलवान् वर्ण नील ही है।

३८—चित्र-कर्म

अन्तःपुरिकाओंके मनोविनोदके अनेक साधन थे, जिनमें चित्र-कर्मका (६३-६६) प्रमुख स्थान था। विष्णुधर्मोत्तर पुराणके चित्र-सूत्रमें कहा गया है (३-४५-३८) कि समस्त कलाओंमें चित्रकला श्रेष्ठ है। वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पदार्थोंको देनेवाली है। जिस गृहमें इस कलाका वास रहता है वह परम मांगल्य होता है। हमने पहले ही देखा है कि उन दिनों प्रत्येक सुसंस्कृत व्यक्तिके कमरेमें चित्रफलक और समुद्गक या रंगोंकी डिबियाका रहना आवश्यक माना जाता था। अन्तःपुरिकाएँ अवसर मिलनेपर इस विद्याके द्वारा अपना मनोविनोद करती थीं। चित्र नाना आधारोंपर बनाए जाते थे—काठ या हाथी दाँतके चित्र-फलकपर, चिकने शिलापट्ट-पर, कपड़ेपर और भीतपर। भीतपरके चित्रोंकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। पंचदशी नामक वेदान्त ग्रन्थसे जान पड़ता है कि कपड़ेपर बनाए जानेवाले चित्र चार अवस्थाओंसे गुजरते थे, धौत, मंडित, लांछित और रंजित। कपड़ेका धोया हुआ रूप धौत है, उसपर चावल आदिके माँडसे घोंटाई मंडित है, फिर काजल आदिकी सहायतासे रेखांकन लांछित है और उसमें रङ्ग भरना रञ्जित अवस्था है (६-१-३)। सम्भ्रान्त परिवारमें अन्तःपुरकी देवियोंमें चित्र-विद्याका कैसा प्रचार था इसका

अन्दाजा इसी बातसे लगाया जा सकता है कि कामसूत्रमें जो उपहार लड़कियोंके लिये अत्यन्त आकर्षक हो सकते हैं उनकी सूचीमें एक पटोलिकाका स्थान प्रधान रूपसे है। इस पटोलिकामें अलक्तक, मनःशिला, हरिताल, हिंगुल और श्यामवर्णक (राजावर्तका चूर्ण ?) रहा करते थे। जैसा कि ऊपर बताया गया है, इन पदार्थोंसे शुद्ध और मिश्र रंग बनाए जाते थे। संस्कृत नाटकोंमें शायद ही कोई ऐसा हो जिसमें प्रेमी या प्रेमिकाने अपनी विरह-वेदनाको प्रियका चित्र बनाकर न हल्की की हो। कालिदासके ग्रन्थोंसे जान पड़ता है कि विवाहके समय देवताओंके चित्र बनाकर पूजे जाते थे, बन्धुओंके दूकूल-पट्टके आँचलमें हंसोंके जोड़े आँक दिए जाते थे, और चित्र देखकर वर-वधूके विवाह सम्बन्ध ठीक किए जाते थे।

चार प्रकारके चित्रोंका उल्लेख पुराने ग्रन्थोंमें आता है। विद्ध अर्थात् जो वास्तविक वस्तुसे इस प्रकार मिलता हो जैसे दर्पणमेंकी छाया, अविद्ध या काल्पनिक (अर्थात् चित्रकारके भावोल्लासकी उमंगमें बनाए हुए चित्र,) रस-चित्र और धूलि-चित्र। सभी चित्रोंमें विद्धताकी प्रशंसा होती थी। विष्णुधर्मोतर उस उस्तादको ही चित्रविद् कहनेको राजी है जो सोए आदमीमें चेतना दिखा सके, मरेमें उसका अभाव चित्रित कर सके, निम्नोन्नत विभागको ठीक ठीक अंकित कर सके, तरंगकी चञ्चलता, अग्निशिखाकी कम्प्रगति, धूमका तरंगित होना, और पताकाका लहराना दिखा सके। वस्तुतः उन दिनों चित्रविद्या अपने चरम उत्कर्षको पहुँच चुकी थी।

३९—चित्रगत चमत्कार

पुरानी पुस्तकोंमें चित्रगत चमत्कारकी अनेक अनुश्रुतियाँ पाई जाती हैं। कहते हैं कि काश्मीरके अनन्त वर्माके प्रासादपर जो आमके फल अंकित थे उनमें कौए ठोकर मार जाया करते थे। उन्हें उनके वास्तविक होनेका भ्रम होता था। शकुन्तला नाटकमें राजा दुष्यन्त अपने ही बनाए हुए चित्रकी विद्धतासे स्वयमेव मुह्यमान हो गए थे। यद्यपि नाटककारका अभिप्राय राजाके प्रेमका आतिशय्य दिखाना ही है, परन्तु कई बातें उसमें ऐसी हैं जो चित्रसम्बन्धी उस युगके आदर्शको व्यक्त करती हैं। इस आदर्शका मूल्य इसलिये और भी बढ़ गया है कि वह कालिदास जैसे श्रेष्ठ कविकी लेखनीसे निकला है। भारतवर्षका जो कुछ सुन्दर है, भव्य

है, सुरुचिपूर्ण और कोमल है उसके श्रेष्ठ प्रतिनिधि कालिदास हैं। सो, शकुन्तलाके भाव-मनोरम चित्रको बनानेके बाद राजा दुष्यन्तको लगा कि शकुन्तला अधूरी ही है। थोड़ा सोचकर राजाने अपनी गलती महसूस की। जिस शकुन्तलाको हम हिमालयके उस पवित्र आश्रममें नहीं देखते जिसमें मृग-गण बैठे हुए हैं, स्रोतोवहा मालिनी सिक्त कर रही है, उसके सैकत (बालू) पुलिनमें हंसमिथुन लीन हैं। आश्रम तरुओंमें तपस्वियोंके बल्कल टँगे हैं, कृष्णसार मृगके सींगोंमें मृगी अपने वामनयनोंको खुजलाती हुई रसाविष्ट है, वह शकुन्तला अपूर्ण है। मनुष्य अपने सम्पूर्ण वातावरणके साथ ही पूर्ण हो सकता है और जीवनमें जो बात सत्य है वही चित्रमें भी सत्य है। राजाने इस सत्यको अनुभव किया, उसने शकुन्तलाको उसकी सम्पूर्ण परिवेष्टनीमें अंकित करनेकी इच्छा प्रगट की :—

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्॥

(शकुन्तला, षष्ठ अंक)

केवल भावमनोहर शकुन्तला राजा दुष्यन्तका व्यक्तिगत सत्य है, वस्तुतः वह उससे बड़ी है। वह विश्वप्रकृतिके सौ-सौ हजार विकसित पुष्पोंमेंसे एक है; वह सारे आश्रमको पवित्र और मोहन बनानेवाले उपादानोंमें एक है और इसीलिये इन सबके साथ अविच्छिन्न भावसे संश्लिष्ट है। उस एक तारपर आघात करनेसे सब अपने आप झंकृत हो जाते हैं। वही शकुन्तला अपना अन्त आप नहीं, बल्कि इस समस्त दृश्यमान सत्ताके भीतर निहित एक अखण्ड अविच्छेद 'एक' की ओर संकेत करती है। यही चित्रका प्रधान लक्ष्य है। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि जो कला अपने आपको ही अन्तिम लक्ष्य सिद्ध करती है वह मायाका कंचुक है और जो उस 'एक' परम तत्त्वकी ओर मनुष्यको उन्मुख करती है वह मुक्तिका साधन है। राजाका बनाया हुआ चित्र अन्तमें जाकर इतना सफल हुआ कि वह खुद ही अपनेको भूल गया। वह चित्रस्थ भ्रमरको उपालम्भ करने लगा।

प्राचीन साहित्यमें ऐसे विद्ध चित्रोंकी बात बहुत प्रकारसे आई है। रत्नावली-में सागरिकाने राजा उदयनका चित्र बनाया था और उसकी सखी सुसंगताने उस चित्रके बगलमें सागरिकाका चित्र बना दिया था। सागरिकाकी आँखोंमें प्रणय-दुराशा-

के जो अश्रु थे वे इतने माहक बने थे कि राजाने जब उस चित्रको देखा तो उसके समस्त अंगोंसे विछल-विछलाकर उसकी दृष्टि बार-बार चित्रके उन 'जललवप्रस्यन्दिनी-लोचने' पर ही पड़ती थी:—

> कृच्छ्रादूरुयुगं व्यतीत्य सुचिरं भ्रान्त्वा नितम्बस्थले।
> मध्येऽस्यास्त्रिवलीतरङ्गविषमे निष्पन्दतामागता॥
> मद्दृष्टिस्तृषितेव सम्प्रति शनैरारुह्य तुंगस्तनौ।
> साकांक्ष मुहुरीक्षते जललवप्रस्यंदिनी लोचने॥
>
> (रत्नावली २-३५)

संस्कृत साहित्यमें शायद ही दो-तीन नाटक ऐसे मिलें जिनमें विद्ध चित्रोंके चमत्कारका वर्णन न हो। चित्र उन दिनों विरहीके विनोद थे, वियोगियोंके मेलापक थे, प्रौढ़ोंके प्रीति-उद्रेचक थे, गृहोंके शृंगार थे, मन्दिरोंके मांगल्य थे, संन्यासियोंके साधना-विषय थे, और राहगीरोंके सहारे थे। प्राचीन भारत चित्रकलामर्मज्ञ साधक था।

४०—चित्रकलाकी श्रेष्ठता

विष्णुधर्मोत्तर पुराणके चित्रसूत्रमें कहा गया है कि समस्त कलाओंमें चित्र-कला श्रेष्ठ है। वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्षको देनेवाली है। जिस गृहमें यह कला रहती है वह गृह मांगल्य होता है। (तृतीय खंड ४५।४८)। एक अत्यन्यत महत्त्वपूर्ण बात यह कही गई है कि नृत्य और चित्रका बड़ा गहरा सम्बन्ध है। मार्कण्डेय मुनिने कहा था कि नृत्य और चित्र दोनोंमें ही त्रैलोक्यकी अनुकृति होती है। महानृत्यमें दृष्टि, हाव, भाव आदिकी जो भंगी बताई गई है वह चित्रमें भी प्रयोज्य है, क्योंकि वस्तुतः नृत्य ही परम चित्र है—नृत्यं चित्रं परं स्मृतम्।

सोमेश्वरकी अभिलाषितार्थ-चिन्तामणि नामक पुस्तकमें चार प्रकारके चित्रोंका उल्लेख है—(१) विद्ध चित्र, जो इतना अधिक वास्तविक वस्तुसे मिलता हो कि दर्पणमें पड़ी परछाईंके समान लगता हो, (२) अविद्ध चित्र जो काल्पनिक होते थे, और चित्रकारके भावोल्लासकी उमंगमें बनाए जाते थे, (३) रसचित्र जो भिन्न-भिन्न रसोंकी अभिव्यक्तिके लिये बनाए जाते थे और (४) धूलिचित्र। इस ग्रन्थमें चित्रमें सोनेके उपयोगकी भी विधि दी हुई है। शास्त्रीय ग्रन्थोंके देखनेसे

पता चलता है कि उन दिनों चित्रके विषय अनेक थे केवल शृंगार-चेष्टा या धर्माख्यान तक ही उनकी सीमा नहीं थी। धार्मिक और ऐतिहासिक आख्यानोंके लम्बे-लम्बे पट उन दिनों बहुत प्रचलित थे। कामसूत्रमें ऐसे आख्यानक-पटोंका उल्लेख है (पृ० २६) और मुद्राराक्षस नाटकमें यमपटोंकी कहानी है। देवता, असुर, राक्षस, नाग, यक्ष, किन्नर, वृक्ष-लता, पशु-पक्षी सब कुछ चित्रके विषय थे। इनकी लंम्बाई चौड़ाई आदिके विषयमें शास्त्र-ग्रन्थोंमें विशेष रूपसे लिखा हुआ है।

स्थायी नाट्य-शालाओंकी दीवारें चित्रोंसे अवश्य भूषित होती थीं। चित्र और नाट्यको परस्परका मंगलजनक माना जाता था। भित्तिको सजानेके लिये पुरुष, स्त्री और लताबन्धके चित्र होना आवश्यक माना जाता था। (नाट्य-शास्त्र २-८५-८६)। लताबन्धमें कमल और हंस अवश्य अंकित होते थे क्योंकि कमलको और हंसको गृहकी समृद्धिका हेतु समझा जाता था। यह लक्ष्य किया जा चुका है कि भारतीय नाटकोंका एक प्रधान कथा-वस्तुका उपादान चित्र-कर्म था।

संस्कृत नाटकोंमें शायद ही कोई ऐसा हो, जिसमें प्रेमी या प्रेमिका अपनी गाढ़ विरह-वेदनाको प्रियके चित्र बनाकर न हल्की करती हो। मृच्छकटिककी गणिका वसन्तसेना चारुदत्तका चित्र बनाती है, शकुन्तला नाटकका नायक दुष्यन्त विरही होकर प्रियतमाका चित्र बनाकर मन बहलाता है, रत्नावलीमें तो चित्रफलक ही नाटकके द्वन्द्वको तीव्र और भावको सान्द्र बना देता है। उत्तर-चरितमें राम जानकी अपने पूर्वतर चरित्रोंका चित्र देखकर विनोद करते हैं। कालिदासके ग्रन्थोंसे जान पड़ता है कि विवाहके समय देवताओंके चित्र बनाकर पूजे जाते थे, वधुओंके दुकूल-पट्टके आँचलमें हंसके जोड़े बनाए जाते थे और चित्र देखकर वर-वधूके सम्बन्ध ठीक किए जाते थे। ध्वस्त अयोध्या-नगरी-वर्णन-प्रसंगमें महाकविने कहा है कि प्रासादों-की भित्तिपर पँहले नाना भाँतिके पद्मवन चित्रित थे और उन पद्म-वनोंमें-बड़े-बड़े मातंग (हाथी) चित्रित थे, जिन्हें उनकी प्रियतमा करेणु-बालाएँ मृणाल-खण्डमें देती हुई अंकित की गई थीं। ये चित्र इतने सजीव थे कि उन्हें वास्तविक हाथी समझकर आजकी विध्वस्तावस्थामें वहींके रहनेवाले सिंहोंने अपने तेज नाखूनोंसे उनका कुम्भस्थल विदीर्ण कर दिया था! बड़े-बड़े महलोंमें जो लकड़ीके खम्भे लगे हुए थे, उनपर मनोहर स्त्री-मूर्तियाँ अंकित थीं और उनमें रंग भी भरा गया था। अवस्थाके गिरनेसे ये दारु मूर्तियाँ फीकी पड़ गई थीं। अब तो साँपोंकी छोड़ी हुई

केंचुलें ही उनके वक्षःस्थलके आवरणयोग्य दुकूल वस्त्रका कार्य कर रही हैं।

चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभंगाः ।
नखांकुशाघातविभिन्नकुंभाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति ॥
स्तंभेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम् ।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति संगान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः ॥
—रघुवंश १६-१६-१७

जान पड़ता है, उन दिनों इस प्रकारके चित्र बहुत प्रचलित थे। अजन्तामें हूबहू एक वैसा ही चित्र है, जैसा कालिदासने ऊपरके हाथीवर्णनके प्रसंगमें कहा है। दुर्भाग्यवश कालके निर्मम स्रोतमें उस युगकी दारुमयी स्तम्भप्रतिमायें एकदम वह गई हैं। नहीं तो इसका भी कुछ उदाहरण मिल ही जाता। चीनमें कहानी प्रसिद्ध है कि तेनू सम्राटोंके गृहपर जो फल-वृक्ष अंकित थे उनपर सुग्गे चोंचें मारा करते थे। ऐसा भाव हमारे साहित्यमें भी मिलेगा। एक कविने राजाकी स्तुति करते हुए कहा था कि हे राजन् तुम्हारे डरके मारे जो शत्रु भाग गए हैं उनके घरोंमें उन्हींके सुग्गे चित्रोंको देख-देखकर यह समझ रहे हैं कि उनके मालिक घरमें ही हैं और राजाके चित्रको देखकर कह रहे हैं, कि महाराज आपकी कन्या मुझे नहीं पढ़ाती, रानियाँ चुप हैं, क्या मामला है? फिर कुब्जा दासियोंके चित्रको देखकर कहते हैं कि तू मुझे क्यों नहीं खिलाती? इत्यादि—

राजन् राजसुता न पाठयति मां देव्योऽपि तूष्णीं स्थिताः।
कुब्जे भोजय मां कुमार सचिवैर्नाद्यापि किं भुज्यसे॥
इत्थं नाथशुकास्तवारिभवने मुक्तोऽध्वगैः पञ्जरात्।
चित्रस्थानवलोक्यशून्यवलभावेकैकमाभाषते ॥

काव्य-नाटकादिमें चित्रका जो प्रसंग आता है, उसमें सर्वत्र विद्ध चित्रकी ही प्रशंसा मिलती है, अर्थात् जो चित्र देखनेमें ठीक हू-बहू मूल वस्तुसे मिल जाता था वही प्रशंसनीय समझा जाता था। कालिदासकी शकुन्तलामें एक विवादास्पद अर्थवाला श्लोक आता है, जिसमें शायद चित्रकी अपूर्णताकी ओर इशारा किया गया है। राजा दुष्यन्तने शकुन्तलाका जो चित्र बनाया था, जिसमें शकुन्तलाके दोनों नेत्र कान तक फैले हुए थे, भ्रूलता लीलाद्वारा कुञ्चित थी, अधर-देश उज्ज्वल दसन-छविकी ज्योत्स्नासे समुद्भासित थे, ओष्ठ-प्रदेश पके ककन्धूके समान पाटल वर्णके थे, विभ्रम-विलासकी मनोहारिणी छविकी एक तरल धारा-सी जगमगा उठी थी,

चित्रगत होनेपर भी मुखमें ऐसी सजीवता थी कि जान पड़ता था अब बोला, अब बोला—

. दीर्घापांगविसारिनेत्रयुगलं लीलांचितभ्रूलतं
दन्तान्तःपरिकीर्णहासकिरणज्योत्स्नाविलिप्ताधरम्
कर्कन्धूद्युतिपाटलोष्ठरुचिरं तस्यास्तदेतन्मुखम्
चित्रेऽप्यालपतीव विभ्रमलसत्प्रोद्भिन्नकान्तिद्रवम् ॥१०२॥

मिश्रकेशी नामक शकुन्तलाकी सखीने इस चित्रको देखकर आश्चर्यके साथ अनुभव किया था कि मानों उसकी सखी सामने ही खड़ी है। पर राजाको सन्तोष नहीं था। इतना भावपूर्ण सजीव चित्र भी कुछ कमी लिए हुए था। राजाने कहा कि—चित्रमें जो-जो साधु अर्थात् ठीक नहीं होता, उसे दूसरे ढङ्गसे (अन्यथा) किया जाता है, तथापि उसका लावण्य रेखासे कुछ अन्वित हुआ है।—

यद् यत्साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम् ॥ १०३

इन वाक्योंका अर्थ पंडितोंने कई प्रकारसे किया है। शायद राजाका भाव यही है कि हजार यत्न किया जाय मूल वस्तुका भाव चित्रमें नहीं आ पाता, या फिर यह हो कि कल्पित मूल्योंकी योजनाका कलामें प्राधान्य होनेके कारण काँचकी भाँति चित्रमें भी मूल वस्तुको कुछ दूसरे ही रूपमें सजाया जाता है जिसमें अभिरामता बढ़ जाती है। दूसरे अर्थका समर्थन मालविकाग्निमित्रके इस श्लोकसे होता है जिसके अनुसार वास्ताविक मालविकाको देखकर राजाने कहा था कि चित्रमें इसके रूपको देखकर मुझे आशंका हुई थी कि शायद वास्तवमें यह उतनी सुन्दर ही होगी जैसा कि चित्रमें दिख रही है पर इसे प्रत्यक्ष देखकर लग रहा है कि चित्रकारकी समाधि ही शिथिल हो गई थी—उसने चंचल चित्तसे चित्र बनाया था!—

चित्रगतायामस्या कान्तिविसंवादशंकि मे हृदयम्।
संप्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता।

इतना तो स्पष्ट ही है चित्रकारका ध्यान शिथिल न हो गया होता तो और भी सुंदर बनाता। परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि कालिदासने चित्रमें जो-जो गुण बताए हैं, वे निश्चत रूपसे उत्तम कलाके सबूत हैं। यह जो बोलता-बोलता भाव है, या फिर ऊँचे स्थानोंका ऊँचा दिखाना, निम्न स्थानोंका निम्न दिखना, शरीरमें इस प्रकार रंग और रेखाका विन्यास करना कि मृदुता और सुकुमारता निखर आए,

४१—कुमारी और वधू

अन्तःपुरकी कुमारियाँ विवाहिता वधुओंकी अपेक्षा अधिक कलाप्रवीण होती थीं। वे वीणा बजा लेती थीं, वंशी वाद्यमें निपुण होती थीं, गानविद्यामें दक्षता प्राप्त करती थीं, द्यूत क्रीड़ाकी अनुरागिणी होती थीं, अष्टापद या पासाकी जानकार होती थीं, चित्रकर्ममें मेहनत करती थीं, सुभाषितोंका अर्थात् अच्छे श्लोकोंका पाठ कर सकती थीं, और अन्य अनेकविध कलाओंमें निपुण होती थीं। अन्तःपुरकी वधुएँ पर्देमें रहती थीं, उनके सिरपर अवगुंठन या घूँघट हुआ करता था और चार अवसरोंके अतिरिक्त अन्य किसी समय उन्हें कोई देख नहीं सकता था। ये चार अवसर थे यज्ञ, विवाह, विपत्ति और वन-गमन। इन चार अवस्थाओंमें वधूका देखना दोषावह नहीं माना जाता था। प्रतिमा नाटकमें इसीलिये श्री रामचन्द्रने कहा है—

स्वैरं हि पश्यन्तु कलत्रमेतद्
वाष्पाकुलाक्षैर्वदनैर्भवन्तः।
निर्दोषदृश्या हि भवन्ति नार्यो
यज्ञे विवाहे व्यसने वने च॥

(प्रतिमा० १-२९)

परन्तु कुमारियाँ अधिक स्वतंत्र थीं। वे व्रत, उपवास तो करती थीं परन्तु उनके अतिरिक्त अनेक प्रकारकी कलाओंमें भी रुचि रखती थीं। वे लिखती पढ़ती थीं, चित्र बनाती थीं, गृह-द्वारको अभिराम-मण्डनिकाओंसे मंडित करती थीं और यथावसर शास्त्रार्थ-विचार भी कर लेती थीं। काव्यग्रन्थ लिखनेका कार्य कुमारी कन्याएँ किया करती थीं और कभी कभी उनके प्रेमपत्र लिखनेका सबूत मिल ही जाता है।

४२—लेखन-सामग्री

पुस्तक और पत्र लिखनेके लिए साधारणतः भूर्जपत्रका व्यवहार होता था। कालिदासने हिमालयकी महिमा-वर्णनके प्रसंगमें बताया है कि विद्याधर-सुन्दरियाँ भूर्जपत्रोंपर धातुरससे अपने प्रेमियोंके पास पत्र लिखा करतीं थी जिनके अक्षर हाथीके सूँड़पर मिलनेवाले बिन्दुओंके समान सुन्दर होते थे।

न्यस्ताक्षराधातुरसे न यत्र
भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः ।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणा-
मनङ्गलेखक्रिययोपयोगम् ।

(कुमार १.७)

यह भोजपत्र हिमालय प्रदेशमें पैदा होने वाले 'भूर्ज' नामक वृक्षकी छाल है। इनकी ऊँचाई कभी-कभी ६० फुट तक जाती है। हिमालयमें साधारणतः १४००० फीटकी ऊँचाईपर वे बहुतायतसे पाए जाते हैं। इनकी छाल कागजकी भाँति होती है। इस छालको लेखक लोग अपनी इच्छानुसार लम्बाई-चौड़ाईका काटकर उसपर स्याहीसे लिखते थे। अब तो यह केवल यंत्र-मंत्रके काम ही आता है, पर किसी जमानेमें काश्मीर तथा हिमालय प्रदेशोंमें भूर्जपत्रपर ही पोथियाँ लिखी जाती थीं। अधिकतर भूर्जपत्रकी पुस्तकें काश्मीरसे ही मिलती हैं। भोजपत्रकी सबसे पुरानी पुस्तक खरोष्ठी लिपिमें लिखा हुआ प्राकृत (पालीवाला नहीं) धम्मपद नामक प्रसिद्ध ग्रंथ है, जो संभवतः सन् ईसवीकी तीसरी शताब्दीका है। सबसे पुरानी संस्कृत-पुस्तक जो भोजपत्रपर लिखी मिली है, वह संयुक्तागम सूत्र है। खरोष्ठीवाली पुस्तकका काल निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। वह खोतानसे प्राप्त हुई थी। काश्मीर और उत्तरी प्रदेशोंके सिवा अन्यत्र भूर्जपत्रकी पोथियोंका बहुत अधिक प्रचार नहीं था। निचले मैदानोंमें ताड़के पत्ते प्रचुर मात्रामें उपलब्ध होते थे। वे भूर्जपत्रकी अपेक्षा टिकाऊ भी होते हैं और सस्ते तो होते ही हैं। इसीलिए मैदानोंमें तालपत्रका ही अधिक प्रचार था।

तालपत्रको उबालकर शंख या किसी अन्य चिकने पदार्थसे रगड़कर उन्हें गेल्हा जाता था। गेल्हनेके बाद लोहेकी कलमसे उनपर अक्षर कुरेद दिए जाते थे, फिर काली स्याही लेप दी जाती थी, जो गड्ढोंमें भर जाती थी और चिकने अंशपरसे पोंछ दी जाती थी। लोहेकी कलमसे कुरेदनेकी यह प्रथा दक्षिणमें ही प्रचलित थी। उत्तर भारत और पूर्व भारतमें उनपर उसी प्रकार लिखा जाता था, जिस प्रकार कागजपर लिखा जाता है। इन पत्तोंका आकार कभी-कभी दो फुट तक होता है। संस्कृतमें 'लिख्' धातुका अर्थ कुरेदना ही है। 'लिपि' शब्द तो लिखावटके लिये प्रचलित हुआ है, इसका कारण स्याहीका लेपना ही है। इन पत्रोंमें लिखनेकी जगहके बीचोंबीच एक छेद हुआ करता था। यदि पत्रे बहुत लम्बे हुए तो दो छेद

बनाए जाते थे और इन छेदोंमें धागा पिरो दिया जाता था। बादमें कागजपर लिखी पोथियोंमें भी छेदके लिए जगह छोड़ दी जाती थी, जो वस्तुतः छिद्रित नहीं हुआ करती थी। सूत्रसे ग्रथित होनेके कारण ही पोथियोंके लिए 'ग्रंथ' शब्द प्रचलित हुआ। भाषामें 'सूत्र मिलना' जो मुहावरा प्रचलित है, उसका मूल पोथियोंके पन्नोंको ठीक-ठीक सँभाल रखनेवाला यह धागा ही जान पड़ता है। हमने ऊपर तालपत्रकी सबसे पुरानी पोथीकी चर्चा की है। काशनगरसे कुछ चौथी शताब्दीके लिखे हुए तालपत्रके ग्रन्थोंके त्रुटित अंश भी उपलब्ध हुए हैं। सबसे मजेदार बात यह है कि तालपत्रकी लिखी हुई जो दो पूरी पुस्तकें हैं, वे जापानके होरियूजि-मठमें सुरक्षित हैं। इनके नाम हैं : 'प्रज्ञापारमिता-हृदय सूत्र' और 'उष्णीश-विजय-धारिणी।' इनकी लिखावटसे अनुमान किया गया है कि ये पोथियाँ सन् ईसवीकी छठी शताब्दीके आस-पास लिखी गई होंगी।

४३—प्रस्तर-लेख

प्रसंग है तो कह रखना उचित है कि भूर्जपत्र और तालपत्रकी अपेक्षा भी अधिक स्थायी वस्तु पत्थर है। नाना प्रकारसे पत्थरोंपर लेख खोद कर इस देशमें सुरक्षित रखे गए हैं। कभी-कभी बड़ी-बड़ी पोथियाँ भी चट्टानोंपर और भित्ति-गात्रोंकी शिलाओंपर खोदी गई हैं। बहुत-सी महत्त्वपूर्ण पोथियोंका उद्धार सिर्फ शिलालिपियोंसे ही हुआ है। अशोकके शिला-लेख तो विख्यात ही हैं। बहुत पुराने जमानेमें भी पर्वत-शिलाओंपर उट्टंकित ग्रन्थोंसे क्रान्तिकारी परिणाम निकले हैं। काश्मीरका विशाल अद्वैत शैव मत जिस 'शिव-सूत्र'पर आधारित है, वह पर्वतकी शिलापर ही उट्टङ्कित था। शिलागात्रोंपर उत्कीर्ण लिपियोंने साहित्यके इतिहासकी भ्रांत धारणाओंको भी दूर किया है। महाक्षत्रप रुद्रदामाके लेखसे निस्सन्दिग्ध रूपसे प्रमाणित हो गया कि सन् १५० ई० के पूर्व संस्कृतमें सुन्दर अलंकृत गद्यकाव्य लिखे जाते थे। यह सारा लेख ही गद्य-काव्यका एक उत्तम नमूना है। इसमें महा-क्षत्रपने अपनेको 'स्फुट-लघु-मधुर-चित्र-कान्त-शब्द-समयोदारालंकृत-गद्य-पद्य'का मर्मज्ञ बताया था। सम्राट समुद्रगुप्तने प्रयागके स्तंभपर हरिषेण कवि द्वारा रचित जो प्रशस्ति खुदवाई थी वह भी पद्य और गद्य-काव्यका उत्तम नमूना है। हरिषेणने इसे संभवतः ५३० ई० में लिखा होगा। अब तो सैकड़ों ललित काव्य और

कवियोंका पता इन शिला-लिपियोंसे चला है। इन काव्यात्मक प्रशस्तियोंके अनेक संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं।

इस प्रसंगमें राजा भोजके अपने प्रासाद भोजशालासे उद्धार की गई एक नाटिका और एक प्राकृत काव्यकी चर्चा मनोरंजक होगी। इस भोजशालाकी सरस्वती-कंठाभरण नामक पाठशाला आजकल धारकी कमालमौला मस्जिदके नामसे वर्तमान है। सन् १९०५ ई०में एजुकेशनल सुपरिण्टेण्डेन्ट मिस्टर लेलेने प्रो० हल्चको खबर दी कि धारकी कमालमौला मस्जिदका मिहराब टूट गया है और उसमें से कई पत्थर खिसककर निकल आए हैं, जिनपर नागरी अक्षरोंमें कुछ लिखा हुआ है। इन पत्थरोंको उलटकर इस प्रकार जड़ दिया गया था कि लिखा हुआ अंश पढ़ा न जा सके। जब पत्थर खिसककर टूट गिरे तो उनका पढ़ना संभव हुआ। परीक्षासे मालूम हुआ कि दो पत्थरोंपर महाराज भोजके वंशज अर्जुनदेव वर्माके गुरु गौड़ पंडित मदन कविकी लिखी हुई कोई 'पारिजात-मंजरी' नामक नाटिका थी। नाटिकामें चार अंक होते हैं। अनुमान किया गया कि बाकी दो अंक भी निश्चय ही उसी इमारतमें कहीं होंगे, यद्यपि मस्जिदके हितचिंतकोंके आग्रहसे उनका पता नहीं चल सका। फिर कुछ पत्थरोंपर स्वयं महाराज भोजके लिखे हुए आर्या-छंद-के दो काव्य खोदे गए थे, जिनकी भाषा कुछ अपभ्रंशसे मिली हुई प्राकृत थी। इस शिलापटकी प्रतिच्छवि 'एपिग्राफिका इण्डिका'की आठवीं जिल्दमें छपी है। चौहान राजा विग्रहराजका 'हरिकेलि नाटक' और सोमेश्वर कविका 'ललित-विग्रह राज' नामक नाटक भी शिलापट्टोंपर खुदे पाए गए हैं।

एक सुन्दर काव्य एक पत्थरपर खुदा ऐसा भी पाया गया है, जो किसी शौकीन जमींदारकी मोरियोंकी शोभा बढ़ा रहा था। यद्यपि अभी भी भारतवर्षके अनेक शिला-लेख पढ़े नहीं जा सके हैं, तथापि नाना दृष्टियोंसे इन लेखोंने भारतीय संस्कृति और सभ्यताके अध्ययनमें महत्त्वपूर्ण सहायता पहुँचाई है।

४४—सुवर्ण और रजतपत्र

इस बातका प्रमाण प्राप्त है कि बहुत-सी पुस्तकें सोने और चाँदी तथा अन्य धातुके पत्तरोंपर लिखाकर दान कर दी गई थीं। मेरे मित्र प्रो० प्रहलाद प्रधानने लिखा है कि कालक्रमसे बौद्ध भिक्षुकोंमें यह विश्वास जम गया था कि पुरानी

पोथियोंको गाड़ देनेसे बहुत पुण्य होता है। ऐसी बहुत-सी गाड़ी हुई पोथियोंका उद्धार इन दिनों हो सका है। ह्वेनत्सांगने लिखा है कि महाराज कनिष्कने त्रिपिटकका नूतन संस्करण कराकर ताम्रपत्रोंपर उन्हें खुदवाकर किसी स्तूपमें गड़वा दिया था। अभी तक पुरातत्व-वेत्ता लोग इन गड़े ताम्रपत्रोंका उद्धार नहीं कर सके हैं। लंकामें कंडि जिलेमें हंगुरनकेत बिहारके चैत्यमें हजारों रुपयोंकी बहुमूल्य पुस्तकें और अन्य वस्तुएँ गड़वा दी गई थीं। रौप्य पत्रपर विनय-पिटकके दो प्रकरण, अभिधम्मके सात प्रकरण और दीर्घनिकाय तथा कुछ अन्य ग्रन्थोंको खुदवाकर गड़वानेमें एक लाख बानवे हजार रुपये लगे थे। सोनेके पत्तरोंपर लिखे गए स्तोत्र आदिकी चर्चा भी आती है। तक्षशिलाके गंगू नामक स्तूपसे खरोष्ठी लिपिमें लिखा हुआ एक सोनेका पत्तर प्रसिद्ध खोजी विद्वान जनरल कनिंघमको मिला था। बर्माके द्रोम नामक स्थानसे पालीमें खुदे हुए दो सोनेके पत्तर ऐसे मिले हैं, जिनकी लिपि सन् ई० की चौथी या पाँचवीं शताब्दीकी होगी। भट्टिप्रोलूके स्तूपसे और तक्षशिलासे भी चाँदीके पत्तर पाए गए हैं। सुना है, कुछ जैन-मन्दिरोंमें भी चाँदीके पत्रपर खुदे हुए पवित्र लेख मिलते हैं, ताम्बेके पत्तरोंपर तो बहुत लेख मिले हैं, परन्तु उनपर खुदी कोई बड़ी पोथी नहीं मिली है।

४५—वधूका शान्त-शोभन रूप

कुमारियोंके पत्र-लेखन और पुस्तक-लेखनके प्रसंगमें हम कुछ बहक गए थे। अब फिर मूल विषयपर लौटा जा सकता है। वधूके अनेक रूपोंकी चर्चा पहले हो आई है (पृ० ६६)। हम अन्यत्र यज्ञ और विवाहके अवसरोंपर पौर वधुओंको देखनेका अवसर पाएँगे। व्यसन अर्थात् विपत्तिके अवसरपर देखनेका मौका भी हमें इस पुस्तकमें नहीं मिलेगा, परन्तु प्राचीन भारतकी अन्तःपुर-वधूको यदि हम व्यसनावस्थामें न देखें तो उसका ठीक-ठीक परिचय न पा सकेंगे। वधूके व्यसन (विपत्ति) कई थे—रोग, शोक, सपत्नी-निर्यातन, पतिका औदासीन्य, पतिके अन्यत्र प्रेमद्रवित होनेकी आशंका और सबसे बढ़कर पुत्रका न होना। इन अवसरोंपर वह कठिन व्रतोंका अनुष्ठान करती थी, ब्राह्मणों और देवताओंकी पूजा करती थी, उपवास करके स्नानादिसे पवित्र हो गुग्गुल धूपसे धूपित चण्डी-मण्डपमें कुशासन बिछाकर बास करती थी, गोशालाओंमें आकर सौभाग्यवती धेनुओं—जिन्हें वृद्ध गोपिकाएँ सिन्दूर,

चन्दन और माल्यसे पूजा कर देती थी—की छायामें स्नान करती थी, रत्नपूर्ण तिलपात्र ब्राह्मणोंको दान करती थी, ओझोंकी शरण जाती थी और कृष्ण चतुर्दशीकी रातको चतुष्पथ (चौराहे) पर दिक्पालोंको बलि देती थी, ब्राह्मी आदि मातृकाओंकी पूजा करती थी,अश्वत्थादि वृक्षोंकी परिक्रमा करती थी,स्नानके पश्चात् चाँदीके पात्रमें अक्षत दधिमिश्रित जलका उपहार गौवोंको खिलाती थी, पुष्प धूप आदिसे दुर्गा देवीकी पूजा करती थी, सत्यवादी क्षपणक साधुओंको अन्नका उपढौकन देकर भावी मंगलके विषयमें प्रश्न करती थी, विप्रश्निका कही जानेवाली स्त्री-ज्योतिषियोंसे भाग्य गणना कराती थी, अङ्गोंका फड़कना तथा अन्यान्य शुभाशुभ शकुनोंका फल दैवज्ञसे पूछती थी, तांत्रिक साधकोंके बताए गुप्त मन्त्रोंका जप करती थी, ब्राह्मणोंसे वेदपाठ कराती थी, ग्रहाचार्योंसे स्वप्नका फल पुछवाती थी और चत्वरमें शिवाबलि (शृगालियोंको उपहार) देती थी। इस प्रकार यद्यपि वह अवरोधमें रहती थी (कादम्बरी), तथापि पूजा-पाठ और अपने विश्वासके अनुसार अन्यान्य मांगल्य अनुष्ठानोंके समय वह बाहर निकल सकती थी।

४६—उत्सवमें वेशभूषा

पुरुष और स्त्री दोनोंके लिये यह आवश्यक था कि वे उत्सवोंमें पूर्ण अलंकृत होके जायँ। केवल स्त्रियाँ ही प्राचीन भारतमें अलंकार नहीं धारण करती थीं; पुरुष भी नाना प्रकारके अलंकार धारण करता था। अयोध्याके नागरिकोंकी बात बताते समय आदि कविने लिखा है कि—अयोध्यामें कोई ऐसा पुरुष नहीं था जो कुण्डल न धारण किए हो, मुकुट न पहने हो, मालासे विभूषित न हो, काफी भोगका अधिकारी न हो, साफ-सुथरा न रहता हो, अंगरागोंका लेप न करता हो, सुगन्धि न धारण करता हो, अंगद (बाहुका आभूषण), निष्क (उरोभूषण) और हाथके आभरणोंको न धारण किए हो (बाल० ७-१०-१२)। स्त्रियाँ तो सब देशमें सब समय भूषण धारण करती ही हैं। प्राचीन ग्रन्थोंमें पुरुषोंके बाहुमूल कलाई और अंगुलियोंके धार्य अलंकारोंकी खूब चर्चा है और कुण्डल और हारकी भी चर्चा बराबर मिलती है। ये अलंकार सभी पुरुष धारण करते थे।

अलंकार तीन प्रकारके माने गए हैं—स्वाभाविक, अयत्नज और बाह्य। लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक,

ललित और विहृत ये स्त्रियोंके स्वाभाविक अलंकार हैं। अलंकारक ग्रन्थोंमें इनका विस्तृत विवरण मिलेगा। अयत्नज अलंकार पुरुषोंके और स्त्रियोंके अलग-अलग माने जाते थे। शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रगल्भता और औदार्य स्त्रियोंके अयत्न-साधित अलंकार हैं और शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, ललित, औदार्य और तेज पुरुषोंके। शास्त्रोंमें इनके लक्षण बताए गए हैं (नाट्य-शास्त्र २४-२४-३६) वस्तुतः इन स्वाभाविक अलंकारोंसे ही पुरुष या स्त्रीका सौन्दर्य खिलता है। बाह्य अलंकार तो स्वाभाविक सौन्दर्यको ही पुष्ट करते हैं। कालिदासने ठीक ही कहा था कि कमलका पुष्प शैवाल जालसे अनुविद्ध हो तो भी सुन्दर लगता है, चन्द्रमाका काला धब्बा मलिन होकर भी शोभा विस्तार करता है, उसी प्रकार वल्कल धारण करनेपर भी शकुन्तलाका रूप अधिक मनोज्ञ हो गया है। मधुर आकृतियोंके लिए कौन-सी वस्तु अलंकार नहीं हो जाती ?—

> सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
> मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
> इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
> किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥

परन्तु फिर भी यह आवश्यक माना जाता था कि नागरिक लोग देश कालकी परिपाटी समझें, अलंकरणोंका उचित सन्निवेश जानें, और सामाजिक उत्सवोंके अवसरपर सुरुचि और सुसंस्कारका परिचय दें। उस युगके शास्त्रकारोंने इस बातपर जोर दिया है कि युवक-युवतियोंको गुण, अलंकार, जीवित और परिकरका ज्ञान होना चाहिए। क्योंकि गुण शोभाका समुत्पादक है, अलंकार समुद्दीपक है, जीवित अनुप्राणक है, परिकर व्यंजक है। ये एक दूसरेके उपकारक हैं, और इसीलिए परस्परके अनुग्राहक भी हैं। गुण और अलंकारसे ही शरीरमें उत्कर्ष आता है। शोभा-विधायक धर्मोंको गुण कहते हैं। वे ये हैं :—

> रूपं वर्णः प्रभा रागः आभिजात्यं विलासिता।
> लावण्यं लक्षणं छाया सौभाग्यं चेत्यमी गुणाः॥

शरीर अवयवोंकी रेखामें स्पष्टताको रूप कहते हैं, गौरता-श्यामता आदि-को वर्ण कहते हैं, सूर्यकी भाँति चमक (काचकाच्य) वाली कान्तिको प्रभा कहते हैं, अधरोंपर स्वभाविक हँसी खेलते रहनेके कारण सबकी दृष्टि आकर्षण करनेवाले धर्मको राग कहते हैं, फूलके समान मृदुता और पेशलता नामक वह

गुण जो लालनादिके रूपमें एक विशेष प्रकारका स्पर्श या सहलाव होता है उसे आभिजात्य कहा गया है, अंगों और उपांगोंसे युवावस्थाके कारण फूट पड़नेवाली विभ्रम विलास नामक चेष्टाएँ, जिनमें कटाक्ष, भ्रूक्षेप आदिका समुचित मात्रामें योग रहता है, विलासिता कहलाती है। चन्द्रमाकी भाँति आह्लादकारक सौन्दर्यका उत्कर्ष-भूत स्निग्ध मधुर वह धर्म जो अवयवोंके उचित सन्निवेशसे व्यंजित होता रहता है लावण्य कहा जाता है। वह सूक्ष्म भंगिमा जो अग्राम्यताके कारण वक्रिमत्वख्यापिनी अर्थात् बाह्य शिष्टाचार और परिपाटीकी प्रकट करनेवाली होती है, जिससे तांबूलसेवन, वस्त्र, परिधान, नृत्य-सुभाषित आदिके व्यवहारमें वक्ताका उत्कर्ष प्रकट होता है छाया कहलाती है, सुभग उस व्यक्तिको कहते हैं जिसके भीतर प्रकृत्या वह रंजक गुण होता है जिससे सहृदय लोग उसी प्रकार स्वयमेव आकृष्ट होते हैं जिस प्रकार पुष्पके परिमलसे भ्रमर। उसी सुभग व्यक्तिके आन्तरिक वशीकरण धर्म-विशेषको सौभाग्य कहते हैं। सहृदयके अन्दर ये दस गुण विधाता-की ओरसे मिले होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति इच्छा करनेसे ही इन्हें नहीं पा सकता। वे जन्मांतरके पुण्यार्जनसे प्राप्त होते हैं।

४७—अलंकार

सहृदयके अलंकार सात ही हैं :

रत्नं हेमांशुके माल्यं मण्डनं द्रव्ययोजने।
प्रकीर्णं चेत्यलंकाराः स्वप्नैवेते मया मताः।

वज्र-मुक्ता-पद्मराग-मरकत-इन्द्रनील-वैदूर्य-पुष्पराग-कर्केतन-पुलक-रुधिराक्ष भीष्म-स्फटिक-प्रवाल ये तेरह रत्न होते हैं। वराहमिहिराचार्यकी बृहत्संहितामें (अध्याय ८०) इनके लक्षण दिए हुए हैं। भीष्मके स्थानमें उसमें विषमक पाठ है। शब्दार्थ-चिन्तामणिके अनुसार यह रत्न हिमालयके उत्तर प्रान्तमें पाया जानेवाला कोई सफेद पत्थर है। बाकीके बारेमें बृहत्संहितामें देखना चाहिए। हेम सोनेको कहते हैं। यह नौ प्रकारका बताया गया है—जांबूनद, शातकौम्भ, हाटक, वैणव शृङ्गी, शुक्तिज, जातरूप, रसविद्ध और आकर (=खनि) उद्गत। इन तेरह प्रकारके रत्नों और नौ प्रकारके सोनोंसे नाना प्रकारके अलंकार बनते हैं। ये चार श्रेणियोंके होते हैं—(१) आवेध्य, (२) निबन्धनीय, (३) प्रक्षेप्य और (४) आरोप्य। ताड़ी, कुण्डल, कानके

बाले आदि अलंकार अंगमें छेद करके पहने जाते हैं इसलिये आवेध्य कहलाते हैं। अङ्गद (बाहुमूलमें पहना जानेवाला अलंकार—बिजायठ जातीय), श्रोणीसूत्र (करधनी आदि), चूड़ामणि, शिखा-दढ़िका आदि अलंकार बाँधकर पहने जाते हैं इसलिये इन्हें निबन्धनीय कहा जाता है। ऊर्मिका, कटक, (पहुँचीमें पहना जानेवाला अलंकार), मंजीर आदि अंगमें प्रक्षेपपूर्वक पहने जाते हैं इसलिये प्रक्षेप्य कहलाते हैं, झूलती हुई माला, हार, नक्षत्रमालिका आदि-आदि अलङ्कार आरोपित किए जानेके कारण आरोप्य कहलाते हैं।

अलंकारोंके एक और वर्गीकरणकी चर्चा मल्लिनाथने मेघदूत (२-११) की टीकामें की है। रसाकर नामक ग्रंथसे एक श्लोक उद्धृत करके बताया है कि भूषण चार प्रकारके ही होते हैं—(१) कचधार्य अर्थात् केशमें धारण करने योग्य, (२) देहधार्य अर्थात् देहमें धारण करने योग्य, (३) परिधेय या पहननेके वस्त्रादि, (४) विलेपन अर्थात् चन्दन अगुरु आदिसे बने हुए अंगराग। ये सब स्त्रियोंके अलंकार हैं। देश विशेषमें ये भिन्न-भिन्न हैं—

कचधार्यं देहधार्यं परिधेयं विलेपनम्।
चतुर्धा भूषणं प्राहुः स्त्रीणामत्यर्थं दैशिकम्॥

वस्त्र चार प्रकारके होते हैं, कुछ छालसे, कुछ फलसे, कुछ कीड़ोंसे और कुछ रोंओंसे बनते हैं; इन्हें क्रमशः क्षौम, कार्पास (रूईके), कौषेय (रेशमी), राङ्कव (ऊनी) कहते हैं। इन्हें भी निबन्धनीय, प्रक्षेप्य और आरोप्यके वैचित्र्यवश तीन प्रकारसे पहना जाता है। पगड़ी, साड़ी आदि निबन्धनीय हैं, चोली आदि प्रक्षेप्य हैं; उत्तरीय (चादर) आदि आरोप्य हैं। वर्ण और सजावटके भेदसे ये नाना भाँतिके होते हैं। सोने और रत्नसे बने हुए अलङ्कारोंकी भाँति माल्यके भी आवेध्य-निबन्धनीय -प्रक्षेप्य- आरोप्य ये चार भेद होते हैं प्रत्येकमें ग्रथित और अग्रथित दो प्रकारके माल्य हो सकते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर माल्यके आठ भेद होते हैं—वेष्ठित अर्थात् जो समूचे अङ्गको घेर ले (उद्वर्त्तित)। एक पार्श्वमें विस्तारित माल्यको वितत कहते हैं, अनेक पुष्पोंके समूहसे रचित माल्यको संघाट्य कहते हैं, बीच-बीचमें विषम गाँठवालोंको ग्रन्थिमत् कहा जाता है, स्पष्ट उम्भितको अवलम्बित, केवल पुष्पवालेको मुक्तक, अनेक पुष्पमयी लताको मंजरी और पुष्पोंके गुच्छेको स्तवक कहते हैं। कस्तूरी-कुंकुम-चन्दन-कर्पूर-अगुरु-कुलक-दन्तसम-पटवास- सहकार-तैल- ताम्बूल- अलक्तक--अञ्जन-गोरोचनाप्रभृति मण्डन

द्रव्यवाले अलङ्कार होते हैं। भ्रूघटना, केशरचना, जूड़ा बाँधना आदि योजनामय अलङ्कार हैं। प्रकीर्ण अलङ्कार दो प्रकारके होते हैं, जन्य और निवेश्य। श्रमजल, मदिराका मद आदि जन्य हैं, और दूर्वा, अशोक पल्लव, यवांकुर, रजत, त्रपु, शंख, तालदल, दन्तपत्रिका, मृणालवलय, करक्रीड़नादिकको निवेश्य कहते हैं, इन सबके समवायको वेश कहते हैं। वह वेश देशकालकी प्रकृति और अवस्थाके सामजस्यको दृष्टिमें रखकर शोभनीय होता है। इनके सजावटसे उचित मात्रामें सन्निवेशसे रमणीयताकी वृद्धि होती है।

यौवन नामक वस्तु ही शोभाका अनुप्राणक है। उसीको जीवित कहते हैं। इस अवस्थामें अङ्गोंमें विपुलता और सौष्ठव आते हैं, उनका पारस्परिक विभेद स्पष्ट हो जाता है। वह पहले वयःसन्धिके रूपमें आरम्भ होता है और प्रौढ़के रूपमें मध्यावस्थाको प्राप्त होता है। प्रथम अवस्थामें धम्मिल्ल (जूड़ा) रचना, केश-विन्यास, वस्त्र-निबन्धन, दन्तपरिकर्म, परिष्कारण, दर्पणेक्षण, पुष्प-चयन, माल्यन्धारण, जलक्रीड़ा, द्यूत, अकारण लज्जा, अनुभाव, शृंगार आदि चेष्टाएं वर्तमान होती हैं। दूसरी अवस्थामें शृंगारानुभावका तारतम्य ही श्रेष्ठ है। शोभाका निकटसे उपकारक होनेके कारण परिकर उसका व्यंजक हैं।

ऊपर जिन बाह्य अलङ्कारोंकी चर्चा है, उनका नाना भावसे साहित्यमें वर्णन आता है। प्राचीन मूर्तियों, चित्रों और काव्योंमें इनका बहुविध प्रयोग पाया जाता है। शास्त्रोंमें उनके नाम भी पाये जाते हैं। (दे० नाट्यशास्त्र, विस्तारसे २३ अध्याय)

४८—स्त्री ही संसारका श्रेष्ठ रत्न है

भूषणोंका विधान नाना भावसे शास्त्रोंमें दिया हुआ है। अभिलषितार्थ चिन्तामणिमें माल्यभोग और भूषाभोग नामक अध्यायोंमें (प्र० ३ अ० ७-८) नाना भाँतिके माल्यों और भूषणोंका विधान किया गया है, परन्तु वराहमिहिराचार्यने स्पष्ट रूपसे बताया है कि वस्तुतः स्त्रियाँ ही भूषणोंको भूषित करती हैं, भूषण उन्हें भूषित नहीं कर सकते :

रत्नानि विभूषयन्ति योषा भूष्यन्ते वनिता न रत्नकान्त्या
चेतो वनिता हरन्त्यरत्ना नो रत्नानि विनांगनांगसंगात्
(बृ० सं० ७४।२)

वराहमिहिरने दृढ़ताके साथ कहा है कि "ब्रह्माने स्त्रीके सिवा ऐसा दूसरा बहुमूल्य रत्न संसारमें नहीं बनाया है जो श्रुत, दृष्ट, स्पृष्ट और स्मृत होते ही आह्लाद उत्पन्न कर सके। स्त्रीके कारण ही घरमें अर्थ है, धर्म है, पुत्र-सुख है। इसलिये उन लोगोंको सदैव स्त्रीका सम्मान करना चाहिए जिनके लिये मान ही धन है। जो लोग वैराग्यका भान करके स्त्रीकी निन्दा किया करते हैं, इन गृहलक्ष्मियोंके गुणोंको भूल जाया करते हैं, मेरे मनका वितर्क यह है कि वे लोग दुर्जन हैं और उनकी बातें मुझे सद्भाव-प्रसूत नहीं जान पड़तीं। सच बताइए, स्त्रियोंमें ऐसे कौन दोष हैं जो पुरुषोंमें नहीं हैं? पुरुषोंकी यह ढिठाई है कि उन्होंने उनकी निन्दाकी है। मनुने भी कहा है कि वे पुरुषोंकी अपेक्षा अधिक गुणवती हैं।···स्त्रीके रूपमें हो या माताके रूपमें, स्त्रियाँ ही पुरुषोंके सुखका कारण हैं। वे लोग कृतघ्न हैं जो उनकी निन्दा करते हैं। दाम्पत्यगत व्रतके अतिक्रमण करनेमें पुरुषोंको भी दोष होता है और स्त्रीको भी, परन्तु स्त्रियाँ उस व्रतका जिस संयम और निष्ठाके साथ पालन करती हैं, पुरुष वैसा नहीं करते! आश्चर्य है इन असाधु पुरुषोंका आचरण, जो सत्यव्रता स्त्रियोंकी निन्दा करते हुए 'उलटे चोर कोतवालैं डांटै' की लोकोक्तिको चरितार्थ करते हैं"—

अहो धाष्ट्र्यमसाधूनां निन्दतामनघाः स्त्रियः।
मुंचतामिव चौराणां तिष्ठ चौरेति जल्पताम्॥
(बृ० सं० ७४।१५)

वारहमिहिरकी इस महत्त्वपूर्ण घोषणासे प्राचीन भारतके सद्गृहस्थोंका मनोभाव प्रकट होता है। इस देशमें स्त्रियोंका सम्मान बराबर बहुत उत्तम कोटिका रहा है, क्योंकि जैसा कि शक्ति-संगम तन्त्रके ताराखण्डमें शिवजीने कहा है कि नारी ही त्रैलोक्यकी माता है, वही त्रैलोकका प्रत्यक्ष विग्रह है। नारी ही त्रिभुवनका आधार है और वही शक्तिकी देह है:

नारी त्रैलोक्यजननी नारी त्रैलोक्यरूपिणी।
नारी त्रिभुवनाधारा नारी देहस्वरूपिणी।
(१३-४४)

शिवजीने आगे चलकर बताया है कि नारीके समान न सुख है, न गति है, न भाग्य है, न राज्य है, न तप है, न तीर्थ है, न योग है, न जप है, न मन्त्र और न धन है। वही इस संसारकी सर्वाधिक पूजनीय देवता है क्योंकि वह पार्वती-

का रूप है। उसके समान न कुछ था, न है और न होगा :

न च नारीसमं सौख्यं न च नारीसमा गतिः ।
न नारीसदृशं भाग्यं न भूतं न भविष्यति ॥
न नारीसदृशं राज्यं न नारी सदृशं तपः ।
न नारीसदृशं तीर्थं न भूतं न भविष्यति ॥
न नारीसदृशो योगो न नारीसदृशो जपः ॥
न नारीसदृशो योगो न भूतं न भविष्यति ॥
न नारीसदृशो मन्त्रः न नारीसदृशं तपः ।
न नारीसदृशं वित्तं न भूतो न भविष्यति ॥

(१३-४६-४८)

इसीलिए भारतवर्षकी सुकुमार साधनाका सर्वोत्तम, अन्तःपुरको केन्द्र करके प्रकाशित हुआ था। वहींसे भारतवर्षका समस्त माधुर्य और समस्त मृदुत्व उद्भासित हुआ है।

४९—उत्सव और प्रेक्षागृह

प्राचीन भारतीय नागरिक नाच, गान और उत्सवोंका आनन्द जमकर लिया करते थे। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उन दिनों पेशेवर नर्तकोंका अभिनयगृह किसी निश्चित स्थानपर होता था या नहीं, क्योंकि प्राचीन ग्रन्थोंमें इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। पर इतना निश्चित है कि राज्यकी ओरसे पहाड़ोंकी गुफाओं-में दुमंजिले प्रेक्षागृह बनाए जाते थे और निश्चित तिथियों या अवसरोंपर उनमें नाच गान और नाटकाभिनय भी होते थे। छोटानागपुरके रामगढ़की पहाड़ीपर एक ऐसे ही प्रेक्षागृहका भग्नावशेष आविष्कृत हुआ है। फिर खास-खास मन्दिरोंमें भी धार्मिक उत्सवोंके अवसरपर नाच, गानकी व्यवस्था रहा करती थी। शादी, ब्याह पुत्र-जन्म या अन्य आनन्दव्यंजक अवसरोंपर नागरिक लोग रङ्गशाला और नाच-घर बनवा लेते थे। नाट्यशास्त्रमें स्थायी रङ्गशालाओंकी भी चर्चा है। राजभवनके भीतर तो निश्चित रूपसे रङ्गशालाएँ हुआ करती थीं। प्रायः ही संस्कृत नाटिकाओं-में अन्तःपुरके भीतर अन्तःपुरिकाओंके विनोदके लिये नृत्य-गान-अभिनय आदिका उल्लेख पाया जाता है। नाट्यशास्त्रमें ऐसे प्रेक्षागृहोंका माप भी दिया हुआ है।

दोला-विलास (अजन्ता) पृ० ४०

अन्तःपुरका नृत्य-विनोद (अजन्ता) पृ० ५३

कल्पवल्ली (अजन्ता) पृ० ५८
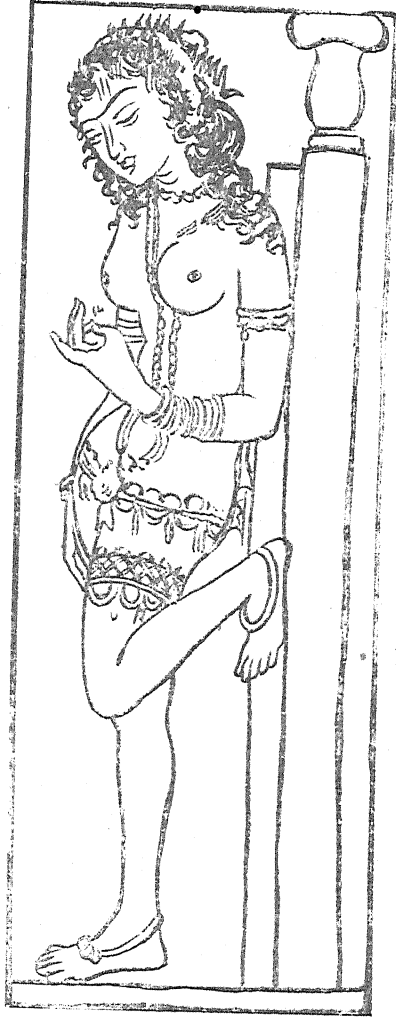
श्रेष्ठ रत्न (अजन्ता) पृ० ३९

सुकुमार नृत्यविनोद (अजन्ता) पृ० ८८

नर्तक-दल (बाघ) पृ० ९१
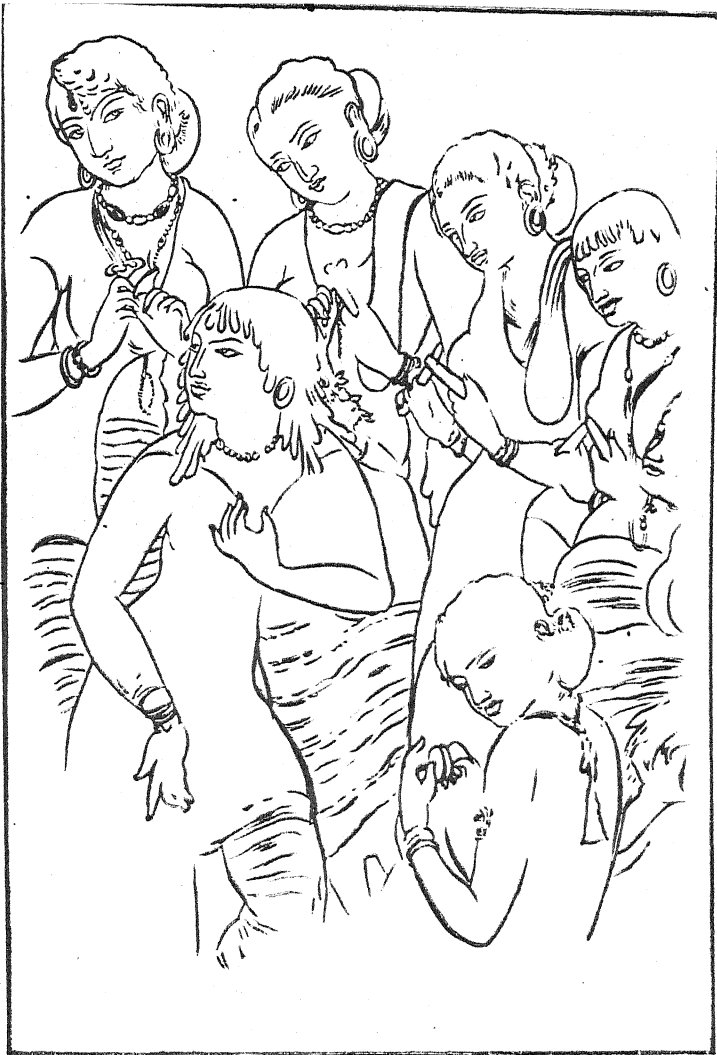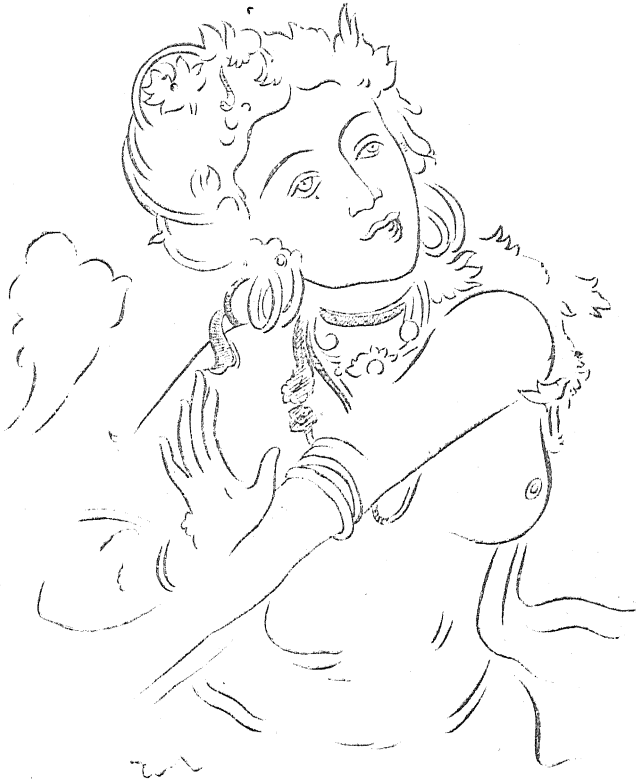
अप्सरा (सित्तन्नवासल) पृ० ९४

राजकीय शोभायात्रा (अजन्ता) पृ० ८६

नर्त्तकीको दण्ड (अजन्ता) पृ० ९६

नृत्याभिनय (एक जैन चित्रसे) पृ० ९८

दरबार (अजन्ता) पृ० ११६
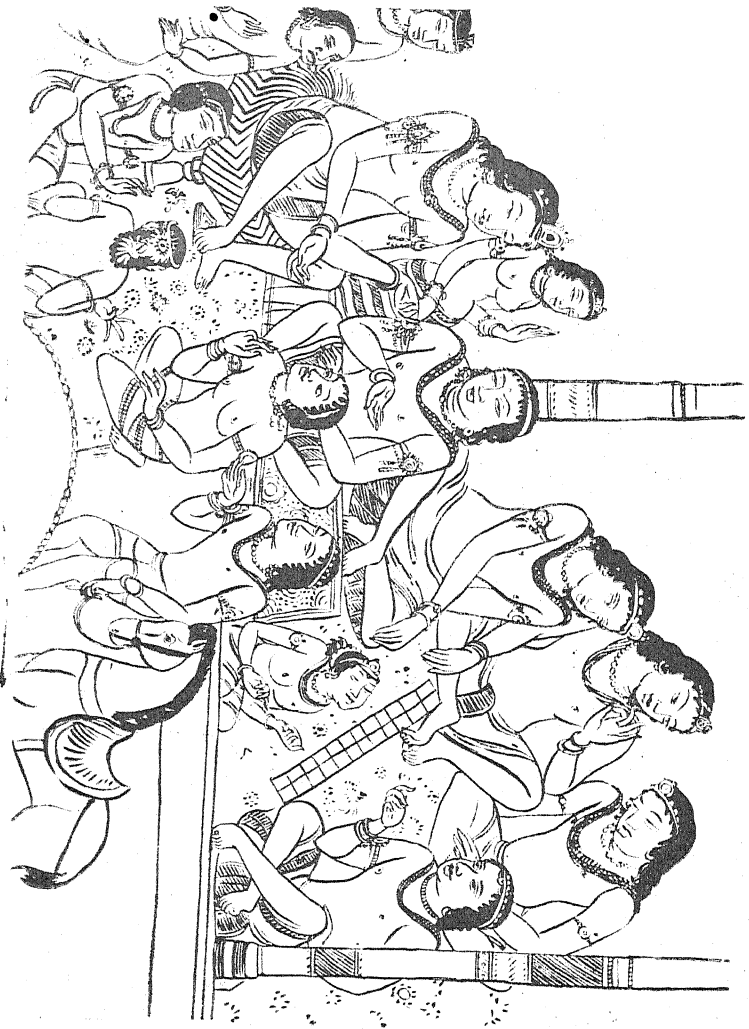
साधारणतः ये तीन प्रकारके होते थे। जो बहुत बड़े होते थे वे देवोंके प्रेक्षागृह कहलाते थे और १०८ हाथ लम्बे होते थे। दूसरे ६४ हाथ लम्बे वर्गाकार होते थे और तीसरे त्रिभुजाकार होते थे, जिनकी तीनों भुजाएँ बत्तीस-बत्तीस हाथोंकी होती थीं। दूसरे तरहके प्रेक्षागृह राजाके कहे जाते थे। ये ही साधारणतः अधिक प्रचलित थे। ऐसा जान पड़ता है कि राजा लोग और अत्यधिक समृद्धिशाली लोगोंके गृहोंमें तो इस प्रकारकी रङ्गशालाएँ स्थायी हुआ करती थीं। 'प्रतिमा' नाटकके आरम्भमें ही नेपथ्यशालाकी बात आई है। रामके अन्तःपुरमें एक नेपथ्यशाला थी, जहाँ रङ्गभूमिके लिये वल्कलादि सामग्री रखी जाती थी। पर साधारण नागरिक यथा अवसर तीसरे प्रकारकी अस्थायी शालाएँ बनवा लेते थे। ऐसी शालाओंके बनवानेमें बड़ी सावधानी बर्ती जाती थी। सम, स्थिर और कठिन भूमि, काली या गौर वर्णकी मिट्टी शुभ समझी जाती थी। भूमिको पहले हलसे जोतते थे। उसमेंकी अस्थि, कील, कपाल, तृण-गुल्म आदिको साफ करते थे और तब प्रेक्षाशालाके लिये भूमि मापी जाती थी। मापका कार्य काफी सावधानीका समझा जाता था, क्योंकि मापते समय सूत्रका टूट जाना बहुत बड़ा अमंगलका कारण माना जाता था। सूत्र कपास, बेर, वल्कल और मूँजमेंसे किसी एकका होता था। यह विश्वास किया जाता था कि आधेमेंसे सूत्र टूट जाय तो स्वामीकी मृत्यु होती है, तिहाईमेंसे टूट जाय तो राजकोपकी आशंका होती है, चौथाईसे टूटे तो प्रयोक्ताका नाश होता है, हाथ-भर परसे टूट जाय तो कुछ घट जाता है। सो, रज्जुग्रहणका कार्य अत्यन्त सावधानीसे किया जाता था। यह तो कहना ही बेकार है कि तिथि, नक्षत्र, करण आदिकी शुद्धिपर विशेष रूपसे ध्यान दिया जाता था। इस बातका पूरा ध्यान रखा जाता था कि काषाय-वस्त्रधारी, हीनवपु और विकलांग लोग मंडप-स्थापनाके समय दिखकर अशुभ न उत्पन्न कर दें! खंभोंके स्थापनमें भी इसी प्रकारकी सावधानी बर्ती जाती थी। खंभा हिल गया, खिसक गया, काँप गया तो नाना प्रकारका उपद्रव होना संभव माना जाता था। वस्तुतः रंगगृहके निर्माणकी प्रत्येक क्रिया शुभाशुभ फलदायिनी मानी जाती थी। पद-पदपर पूजा, बलि, मन्त्रपाठ और ब्राह्मण-भोजनकी आवश्यकता समझी जाती थी। भित्तिकर्म, चूना पोतना, चित्र बनाना, खंभा गाड़ना, भूमि समान करना आदि क्रियाओंमें भावाजोखीका डर रहता था (नाट्य शास्त्र १)। इस प्रकार प्रेक्षाशालाओंका निर्माण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता था।

राजाओंकी विजय-यात्राओंके पड़ावपर भी अस्थायी रङ्गशालाएँ बना ली जाती थीं। इन शालाओंके दो हिस्से हुआ करते थे। एक तो जहाँ अभिनय हुआ करता था, वह स्थान और दूसरा दर्शकोंका स्थान, जिसमें भिन्न-भिन्न श्रेणीके लिये उनकी मर्यादाके अनुसार स्थान नियत हुआ करते थे। जहाँ अभिनय होता था, उसे रङ्गभूमि (या संक्षेपमें 'रङ्ग') कहा करते थे। इस रङ्गभूमिके पीछे तिरस्करणी या पर्दा लगा दिया जाता था। पर्देके पीछेके स्थानको नेपथ्य कहा करते थे। यहींसे सजधजकर अभिनेतागण रङ्गभूमिमें उतरते थे। 'नेपथ्य' शब्द (नि + पथ + य) में 'नि' उपसर्गको देखकर कुछ पण्डितोंने अनुमान किया है कि 'नेपथ्य' का धरातल रङ्गभूमिकी अपेक्षा नीचा हुआ करता था, पर वस्तुतः यह उल्टी बात है। असलमें नेपथ्य परसे अभिनेता रङ्गभूमिमें उतरा करते थे। सर्वत्र इस क्रियाके लिये 'रङ्गावतार' (रङ्गभूमिमें उतरना) शब्द ही व्यवहृत होता है।

५०---गुफाएँ और मन्दिर

भारतीय तक्षण-शिल्पके चार प्रधान अंग हैं—गुफा, मन्दिर, स्तम्भ और प्रतिमा। प्रथम दोका सम्बन्ध नाटकीय अभिनयोंके साथ भी पाया गया है। इस देशमें पहाड़ोंको काटकर गुफा-निर्माणकी प्रथा बहुत पुरानी है। गुफाएँ दो जातिकी हैं : चैत्य और विहार। चैत्यके भीतर एक स्तूप होता है और जनसमाजके सम्मलित होनेके लिये लम्बा-चौड़ा हाल बनाया जाता है। इस प्रकारकी गुफाओंमें कार्लीकी गुफा श्रेष्ठ है। विहार बौद्ध-भिक्षुओंके मठको कहते हैं। दक्षिण भारतमें अजन्ता, एलोरा, कार्ली, भाजा, भिलसा आदिके विहार संसारके शिल्प-प्रेमियोंकी प्रचुर प्रशंसा प्राप्त कर सके हैं। हमने पहिले ही लक्ष्य किया है कि एक गुफामें एक प्रेक्षागृह या रंगशालाका भग्नावशेष पाया जा सका है। मन्दिरोंसे सम्बद्ध रंगशालाएँ भी पाई गई हैं। जिस देवताका मन्दिर हुआ करता था उसकी लीलाओंका अभिनय हुआ करता था और भक्त लोग उन्हें देखकर भगवच्चिन्तनमें समय बिताया करते थे। उत्तर भारतमें ब्राह्मण और जैन मन्दिर ही अधिक हैं। ब्राह्मण मन्दिरमें 'गर्भगृह' में मूर्ति स्थापित होती है और आगे मंडप बनाया जाता है। जैन मन्दिरोंमें कभी कभी दो मंडप होते हैं और एक वेदी भी। इन मन्दिरोंके 'गर्भगृह' पर शिखर होता है। शिखरके ऊपर सबसे ऊँचे एक प्रकारका बड़ा चक्र होता है जिसे 'आमलक' कहते

हैं। इसी आमलकके ऊपर कलश होता है और उसके ऊपर ध्वज-दण्ड। द्रविड़ शैलीके मन्दिरोंमें गर्भगृहके ऊपर कई मंजिलोंका चौकोर मण्डप होता है जिसे विमान कहा जाता है। यह ज्यों-ज्यों ऊँचा होता जाता है त्यों-त्यों उसका फैलाव कम होता जाता है। जहाँ उत्तर भारतमें शिखर होता है वहीं दक्षिण भारतीय शैलीमें विमान होता है। गर्भगृहके आगे बड़े-बड़े स्तम्भोंवाला विस्तृत स्थान (मण्डप) होता है और मन्दिरके प्राकारके द्वारोंपर अनेक देवी देवताओंकी मूर्तिवाला ऊँचा गोपुर होता है। दक्षिणके चिदावरम् आदि मन्दिरोंपर नाट्य-शास्त्रके बताए हुए विविध अंगहार चित्रित हुए हैं। कोणार्क भुवनेश्वरके मन्दिरोंमें भी नाना प्रकारके शास्त्रीय आसन उत्कीर्ण हैं। इन मन्दिरोंपर उत्कीर्ण इन चित्रोंसे बहुत-सी लुप्त अभिनय भंगियोंके समझनेमें सहायता मिलती है। इसी प्रकार गुफाओंमें अंकित चित्रोंने नाना दृष्टिसे भारतीय समाजको समझानेमें सहायता पहुँचाई है। उनकी कला तो असाधारण है ही। एक प्रसिद्ध अँग्रेज शिल्प-शास्त्रीने आश्चर्यके साथ लक्ष्य किया था कि गुफाओंके काटनेमें कहीं भी एक भी छेनी व्यर्थ नहीं चलाई गई है। भारतीय वास्तुकलाकी दृष्टिसे इन गुफाओं और मन्दिरोंकी प्रशंसा संसारके सभी शिल्प-विशारदोंने की है। अद्भुत धैर्य, विशाल मनोबल और आश्चर्यजनक हस्तकौशलका ऐसा सामंजस्य संसारमें बहुत कम मिलता है। आलोचकोंने इस सफलताका प्रधान कारण कलाकारोंकी भक्तिको ही बताया है।

५१—दर्शक

इन प्रेक्षागृहोंमें—चाहे वे स्थायी हों या अस्थायी—अभिनय देखनेके लिये जानेवाले दर्शकोंमें छोटे-बड़े, शिक्षित अशिक्षित सभी हुआ करते थे, पर ऐसा जान पड़ता है कि अधिकांश दर्शक रस-शास्त्रके नियमोंके ज्ञाता हुआ करते थे। कालिदास, हर्ष आदिके नाटकोंमें अभिरूप-भूयिष्ठा और गुणग्राहिणी परिषद्का उल्लेख है। भारतीय जीवनकी यह विशेषता रही है कि ऊँचीसे ऊँची चिन्ता जनसाधारणमें घुली पाई जाती है। यद्यपि शास्त्रीय विचार और तर्क-शैली सीमित क्षेत्रमें ही परिचित होती थी; किन्तु सिद्धान्त सर्वसाधारणमें ज्ञात होते थे। नृत्य और अभिनयसम्बन्धी मूल सिद्धान्त भी उन दिनों सर्वसाधारणमें परिचित रहे होंगे। संस्कृत नाटकों और शास्त्रीय संगीत और अभिनयके द्रष्टाको कैसा होना चाहिए, इस विषयमें नाट्य-

शास्त्रने स्पष्ट रूपमें कहा है (२७-५१ और आगे) कि उसके सभी इन्द्रिय दुरुस्त होने चाहिए, ऊहापोहमें उसे पटु होना चाहिए (अर्थात् जिसे आजकल 'क्रिटिकल आडिएंस' कहते हैं, ऐसा होना चाहिए), दोषका जानकार और रागी होना चाहिए। जो व्यक्ति शोकसे शोकान्वित न हो सके और आनन्दजनक दृश्य देखकर आनन्दित न हो सके अर्थात् जो संवेदनशील न हो, उसे नाट्यशास्त्र, प्रेक्षक या दर्शकका पद नहीं देना चाहता (२७-५२)। यह जरूर है कि सभीकी रुचि एक-सी नहीं हो सकती। वयस, अवस्था और शिक्षाके भेदसे नाना भाँतिकी रुचि और अवस्थाके अनुसार भिन्न विषयके नाटकों और अभिनयोंका प्रेक्षकत्व निर्दिष्ट किया है। जवान आदमी शृंगार रसकी बातें देखना चाहता है, सहृदय काल-नियमों (समय) के अनुकूल अभिनयको पसन्द करता है, अर्थपरायण लोग अर्थ चाहते हैं, वैरागी लोग विरागोत्तेजक दृश्य देखना चाहते हैं, शूर लोग वीर-रस, रौद्र आदि रस पसन्द करते हैं, वृद्ध लोग धर्माख्यान और पुराणके अभिनय देखनेमें रस पाते हैं (२७-५७-५८), फिर एक ही तमाशेके सभी तमाशबीन कैसे हो सकते हैं! फिर भी जान पड़ता है कि व्यवहारमें इतना कठोर नियम नहीं पालन किया जाता होगा और उत्सवादिके अवसरपर जो कोई अभिनयको देखना पसन्द करता होगा, वही जाया करता होगा। परन्तु कालिदास आदि जब परिषद्की निपुणता और गुणग्राहकताकी बात करते हैं, तो निश्चय ही कुछ चुने हुए सहृदयों-की बात करते हैं।

५२—लोक-जीवन ही प्रधान कसौटी है

जैसा कि शुरूमें ही कहा गया है, भरत नाट्यशास्त्र नाट्यधर्मी रूढ़ियोंका विशाल संग्रह ग्रन्थ है। परन्तु नाट्यशास्त्रकारने कभी इस बातको नहीं भुलाया कि वास्तविक प्रेरणाभूमि लोक-जीवन है और वास्तविक कसौटी भी लोकचित्त है। बादके अलंकार-शास्त्रियोंने इस तथ्यपर उतना ध्यान नहीं दिया जितना भरत मुनिने दिया था। नाट्यशास्त्रके २६ वें अध्यायमें उन्होंने विस्तारपूर्वक अभिनय-विधियोंका निर्देश किया है। बहुत विस्तारपूर्वक कहनेके बाद उन्होंने कहा है कि, मैंने सब तो बता दिया पर दुनिया यहीं नहीं समाप्त हो जाती। इस स्थावर, जंगम, चराचर सृष्टिका कोई भी शास्त्र कहाँतक हिसाब बता सकता है। सैकड़ों प्रकारकी भावचेष्टाओंका

हिसाब बताना असंभव कार्य है। लोकमें न जाने कितने प्रकारकी प्रकृतियाँ हैं; इस-लिये नाट्यप्रयोगके लिये लोक ही प्रमाण है, क्योंकि साधारण जनताके आचरणमें ही नाटककी प्रतिष्ठा है! (२६-११८-११९)। वस्तुतः जो भी शास्त्र और धर्म और शिल्प और आचार या लोकधर्म प्रवृत्त है वही नाट्य कहे जाते हैं।

यानि शास्त्राणि ये धर्मा यानि शिल्पानि याः क्रियाः।
लोकधर्मप्रवृत्तानि तानि नाट्यं प्रकीर्तितम्॥

लोकके अतिरिक्त दो और बातोंको शास्त्रकारने प्रमाण माना है। वेद और अध्यात्म। वेदसे उनका मतलब नाट्यवेद अर्थात् नाट्यशास्त्रसे है और अध्यात्मसे मतलब उस अन्तर्निहित तत्त्ववादसे है जो सदा कलाकारको सचेत करता रहता है कि वह जो कुछ कर रहा है वह खेल नहीं है बल्कि पूजा है, परम शिवको तृप्त करनेकी साधनाहै।

नाट्यकी सफलता भी लोकरंजनमें ही है। नाट्यशास्त्रकार सिद्धि दो प्रकार-की मानते हैं, मानुषी और दैवी। दैवी बहुत कुछ भाग्याश्रित है। भूकंप न हो जाय, वर्षा न ढरक पड़े, आँधी तूफान न फट पड़ें, तो नाटक निर्विघ्न होता है। उस अव-स्थामें समझना चाहिए कि देवताओंने सारी बातें स्वीकार कर ली हैं। कहीं कोई दोष नहीं हुआ है। पर मानुषी सिद्धि अभिनयकी कुशलतासे प्राप्त होती है। जब जनता हँसानेके अभिनयके समय हँस पड़े, रुलानेके समय रो पड़े, भावानुभूतिके समय रोमाञ्चगद्गद् हो पड़े तो समझना चाहिए कि नाटक सफल है। नाट्यशास्त्र सहज ही नाटककी सफलता नहीं मानता। वह दर्शकके मुँहसे 'अहो', 'साधु-साधु', 'हा कष्टम्' आदि निकलवा लेना चाहता है। वह सिर हिलवा देनेमें, आँसू निकलवा लेनेमें, लंबी साँस खिंचवा लेनेमें, रोमाञ्चगद्गद् करा देनेमें, झूम-झूमकर वाहवाही दिलवा लेनेमें नाटककी सिद्धि मानता है। वह लोक-जीवनको कभी नहीं भुलाता और न ऊपरके देवताओंकी ही अवहेलना करता है। दोनों ही ओर उसकी दृष्टि है। देवताको असन्तुष्ट करना संभव भी तो नहीं है। उन दिनोंके देवता अभिनयकी त्रुटियोंकी ओर सदा आँख लगाए रहते थे। जरा-सी त्रुटि हुई नहीं कि आँधी भेज दी, आग लगा दी, पानी बरसा दिया, साँप निकाल दिया, वज्र गिरा दिया, कीड़ों-की पल्टन दौड़ा दी, चीटियोंकी सेना चढ़ा दी, साँड़ भैंसा दौड़ा दिया! इनकी उपेक्षा करना क्या मुमकिन था?—

वाताग्निवर्षकुंजर-भुजंग-संक्षोभ-वज्रपातानि।
कीटव्यालपिपीलिकपशुविशसनानि दैविका घाताः॥

५३--पारिवारिक उत्सव

साधारणतः विवाहके अवसरपर या राजकीय किसी उत्सवके अवसरपर ऐसे आयोजनोंका भूरिशः उल्लेख पाया जाता है। जब नगरमें वर-वधू प्रथम बार रथस्थ होकर निकलते थे, तो नगरमें खलभल मच जाती थी। पुर-सुन्दरियाँ सब कुछ भूलकर राजपथके दोनों ओर गवाक्षोंमें आँखें बिछा देती थीं। केश बाँधती हुई बहू हाथमें कबरीबन्धके लिए सम्हाली हुई पुष्पस्रक् (माला) लिए ही दौड़ पड़ती थी, महावर देनेमें दत्तचिता कुलरमणी एक पैरके महावरसे घरको लाल बनाती हुई खिड़कीपर दौड़ जाती थी; काजल बाईं आँखमें पहले लगानेका नियम भूलकर कोई सुन्दरी दाहिनी आँखमें काजल देकर जल्दी-जल्दीमें हाथमें अञ्जन-शलाका लिए ही भाग पड़ती थी, रसनामें मणि गूँथती हुई विलासिनी आधे गुँथे सूत्रको अँगूठेमें लिए हुए ही दौड़ पड़ती थी (रघुवंश ७-६-१०, और कुमारसंभव ७-५७-१०) और इस प्रकार नगर-सौधोंके गवाक्ष सुन्दरियोंकी वदन-दीप्तिसे दमक उठते थे। जब कुमार चन्द्रापीड़ समस्त विद्याओंका अध्ययन समाप्त करके विद्या-गृहसे निर्गत हुए थे और नगरमें प्रविष्ट हुए थे, तो कुछ इसी प्रकारकी खलभल मच गई थी।

प्रतिष्ठित परिवारोंमें, जिनका आपसमें सम्बन्ध होता था, उनके घर उत्सव होनेपर एक घरके लोग बड़े ठाट-बाटसे दूसरे घर जाया करते थे। राजा, मन्त्री, श्रेष्ठी आदि समृद्ध नागरिकोंमें यह आना-जाना विशेष रूपसे दर्शनीय हुआ करता था। मन्त्री शुकनासके घर पुत्र-जन्म होनेपर राजा तारापीड़ उसका उत्सव मनानेके लिए गए थे। उनके साथ अन्तःपुरकी देवियाँ भी थीं। बाणभट्टकी शक्तिशाली लेखनीने इसका जो विवरण दिया है, उससे उस युगके ऐसे जुलूसोंका बहुत मनोरंजक परिचय मिलता है। राजा तारापीड़ जब शुकनासके घर जाने लगे, तो उनके पीछे अन्तःपुरकी परिचारिका रमणियाँ भी थीं। उनके चरण-विघट्टन (पदक्षेप) जनित नूपुरोंके क्वणनसे दिगन्त शब्दायमान हो उठा था, वेगपूर्वक भुज-लताओंके उत्तोलनके कारण मणि-जटित चूड़ियाँ चंचल हो उठी थीं, मानो आकाश गंगामेंकी कमलिनी वायु-विलुलित होकर नीचे चली आई हो; भीड़के संघर्षसे उनके कानोंके पल्लव खिसक रहे थे, वे एक दूसरेसे टकरा जाती थीं और इस प्रकार एकका केयूर दूसरीकी चादरमें लगकर उसे खरोंच डालता था, पसीनेसे घुले हुए अंगराग उनके चीन-वसनोंको रंग रहे थे, भीड़के कारण शरीरका तिलक थोड़ा ही बच रहा था,

साथ-साथ चलनेवाली विलासवती वारवनितओंकी हँसीसे वे प्रस्फुटित कुमुद वनके समान सुशोभित हो रही थीं; चंचल हार-लताएँ जोर-जोरसे हिलती हुई उनके वक्षोभागसे टकरा रही थीं, खुली केशराशि सिन्दूर-बिन्दुपर आकर पड़ रही थी, अबीरकी निरन्तर झड़ी होते रहनेके कारण उनके केश पिंगल वर्णके हो उठे थे, उन दिनोंके संभ्रान्त परिवारोंके अन्तःपुरमें सदा रहनेवाले गूँगे, कुबड़े, बौने और मूर्ख लोग उद्धत नृत्यसे विह्वल होकर आगे चले जा रहे थे, कभी-कभी किसी वृद्ध कंचुकीके गलेमें किसी रमणीका उत्तरीय वस्त्र अटक रहा था और खींचतानमें पड़ा हुआ वह बेचारा खासे मजाकका पात्र बन जाता था। साथमें वीणा, वंशी, मृदंग और कांस्यताल बजता चलता था, अस्पष्ट किन्तु मधुर गान सुनाई दे रहा था। राजाके पीछे-पीछे उनके परिवारकी संभ्रान्त महिलाएँ भी जा रही थीं, उनका मणिमय कुण्डल आन्दोलित होकर कपोल-तलपर निरन्तर आघात कर रहा था, कानके उत्पल-पत्र हिल रहे थे, शेखर-माला भूमिपर गिरती जा रही थी, वक्षःस्थल-विराजित पुष्पमाला निरन्तर हिल रही थी, इनके साथ भेरी,मृदंग,मर्दल, पटह आदि बाजे बज रहे थे, और उनके पीछे-पीछे काहल और शंखके नाद हो रहे थे, और इन शब्दोंके साथ राज-परिवारकी देवियोंके सनूपुर चरणोंके आघातसे इतना जबर्दस्त शब्द हो रहा था कि धरतीके फट जानेका अन्देशा होता था। इनके पीछे राजाके चारणगण नाचते चले जा रहे थे, नाना प्रकारके मुखवाद्यसे कोलाहल करते जा रहे थे, कुछ लोग राजाकी स्तुति कर रहे थे, कुछ विरद पढ़ रहे थे और कुछ यों ही उछलते-कूदते चले जा रहे थे।

जो उत्सव पारिवारिक नहीं होते थे, उनका ठाट-बाट कुछ और तरहका होता था। काव्य-ग्रन्थोंमें इनका भी उल्लेख पाया जाता है। साधारणतः राजाकी सवारी, विजय-यात्रा, विजयके बादका प्रवेश, बारात आदिके जुलूसोंमें हाथियों और घोड़ोंकी बहुतायत हुआ करती थी। स्थान-स्थानपर जुलूस रुक जाता था और घुड़सवार नौजवान घोड़ोंको नचानेकी कलाका परिचय देते थे। नगरकी देवियाँ गवाक्षोंसे धानकी खीलों और पुष्पवर्षासे राजा, राजकुमार या वरकी अभ्यर्थना करती थीं। जुलूसके पीछे बड़ी दूर तक साधारण नागरिक पीछे चला करते थे। जान पड़ता है कि प्राचीन कालके ये जुलूस जन-साधारणके लिए एक विशेष आनन्ददायक उत्सव थे। राजा जब दीर्घ प्रवासके बाद अपनी राजधानीको लौटते थे, उत्सुक जनता प्रथम चन्द्रकी भाँति अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक उनकी प्रतीक्षा करती रहती थी और राजाके

नगरद्वारमें पधारनेपर तुमुल जयघोषसे उनका स्वागत करती थीं। महाकवि कालिदासने रघुवंशमें राजा दिलीपके वन-प्रवासके अवसरपर भी यह दिखाया है कि किस प्रकार वनके वृक्ष और लताएँ नागरिकोंकी भाँति उनकी अभ्यर्थना कर रही थीं। बाल-लताएँ पुष्पवर्षा करके पौर-कन्याओंद्वारा अनुष्ठित खीलोंकी वर्षाकी कमी पूरी कर रही थीं, वृक्षोंके सिरपर बैठकर चहकती हुई चिड़ियाँ मधुर शब्द करके आलोक शब्द या रोशनचौकीके अभावको भलीभाँति दूर कर रही थीं, और इस प्रकार वनमें भी राजा अपने राजकीय सम्मानको पा रहा था। जुलूस जब गन्तव्य स्थानपर पहुँच जाता था तो वहाँके आनुष्ठानिक कृत्यके सम्पादनके बाद नाच, गान, अभिनय आदि द्वारा मनोरंजनकी व्यवस्था हुआ करती थी। दर्शकोंमें स्त्री-पुरुष, वृद्ध-बालक, ब्राह्मण-शूद्र सभी हुआ करते थे। सभीके लिये अलग-अलग बैठनेकी जगहें हुआ करती थीं।

५४—विवाहके अवसरके विनोद

बाणभट्टके हर्षचरितमें विवाहके अवसरपर होनेवाले आमोद उल्लासोंका बड़ा मोहक वर्णन मिलता है। अन्तःपुरकी महिलाएँ भी ऐसे अवसरोंपर नृत्यगानमें हिस्सा लेती थीं। उनके सुन्दर अंगहारोंसे महोत्सव मंगलकलशोंसे सुसज्जित-सा हो जाता था, कुट्टिम-भूमि पादालक्तकोंसे लाल हो जाती थी, चंचल चक्षुओंकी किरणोंसे सारा दिन कृष्णसार मृगोंसे परिपूर्णकी भाँति दिखने लगता था, भुजलताओंके विक्षेप-को देखकर ऐसा लगता था मानो भुवनमंडल मृणालवलयोंसे परिवेष्टित हो जायगा। शिरीष-कुसुमके स्तवकोंसे ऐसे अवसरोंपर अन्तःपुरकी धूप शुक (तोते) के पक्षके रंगमें रँगी हुई-सी जान पड़ने लगती थी, शिथिल धम्मिल्ल (जूड़े) से खिसक कर गिरे हुए तमाल-पत्रोंसे अंगणभूमि कज्जलायमान हो उठती थी और आभरणोंके रणत्कारसे ऐसी मुखर ध्वनि दिशाओंमें परिव्याप्त हो जाती थी कि श्रोताको भ्रम होने लगता था कि कहीं दिशाओंके ही चरणोंमें नूपुर तो नहीं बाँध दिए गए हैं !

समृद्ध परिवारोंके बाहरी बैठकखानेसे लेकर अन्तःपुरतक नाच-गानका जाल बिछ जाता था। स्थान-स्थानपर पण्य-विलासिनियों (वेश्याओं) के नृत्यका आयोजन होता था। उनके साथ मन्द-मन्द भावसे आस्फाल्यमान आलिंग्यक नामक वाद्य बजते रहते थे, मधुर शिंजनकारी मंजुल वेणु-निनाद मुखरित होता रहता था, झनझनाती

हुई झल्लरीकी ध्वनिके साथ कलकांस्य और कोशी (काँसेके दण्ड और जोड़ी) का क्वणन अपूर्व ध्वनि-माधुरीकी सृष्टि करते थे, साथ-साथ दिए जाने वाले उत्तालतालसे दिङ्मण्डल कल्लोलित होता रहता था, निरन्तर ताड़न पाते हुए तंत्रीपटहकी गुञ्जार-से और मृदु-मन्द झंकारके साथ झंकृत अलावु-वीणाकी मनोहर ध्वनिसे वे नृत्य अत्यन्त आकर्षक हो जाते थे। युवतियोंके कानमें ऋतु विशेषके नवीनपुष्प झूलते होते थे,—कभी वहाँ कर्णिकार, कभी अशोक, कभी शिरीष, कभी नीलोत्पल और कभी तमालपत्रकी भी चर्चा आती है—कुंकुम-गौरकान्तिसे वे वलयित होती थीं—मानो काश्मीर-किशोरियाँ हों ! नृत्यके नाना करणोंमें जब वे अपनी कोमल भुजलता-ओंको आकाशमें उत्क्षिप्त करती थीं तो ऐसा लगता था कि उनके कंकण सूर्यमण्डल-को बन्दी बना लेंगे; उनकी कनक-मेखलाकी किंकिणियोंसे कुरण्टकमाला उनके मध्य देश-को घेरती हुई ऐसी शोभित होती थी मानो रागाग्नि ही प्रदीप्त होकर उन्हें वलयित किए है। उनके मुखमण्डलसे सिंदूर और अबीरकी छटा विच्छुरित हो जाती थी और उस लाल कान्तिसे अरुणायित कुण्डल-पत्र इस प्रकार सुशोभित हुआ करते थे, मानो चन्दन द्रुमकी सुकुमार लताओंके विलुलित किसलय हों। उनके नीले वासन्ती, चित्रक और कौसुम्भ वस्त्रोंके उत्तरीय जब नृत्यवेगके घूर्णनसे तरंगायित हो उठते थे तो मालूम पड़ता था कि विक्षुब्ध शृङ्गार-सागरकी चटुल वीचियाँ तरंगित हो उठी हैं। वे मदको भी मदमत्त बना देती थीं, रागको भी रंग देती थीं, आनन्दको भी आनन्दित कर देती थीं, नृत्यको भी नचा देती थीं और उत्सवको भी उत्सुक कर देती थीं (हर्षचरित, चतुर्थ उच्छ्वास)।

एक इसी प्रकारके नृत्य उत्सवका दृश्य पवाया (ग्वालियर राज्य) के तोरणपर अंकित पाया गया है। डा० वासुदेव शरण अग्रवालजी इसे जन्मोत्सवकालीन ('जाति-मह') आनन्द-नृत्य मानते हैं। पर यह विवाहकालीन भी हो सकता है। हर्ष-चरितके वर्णनसे तो वह बहुत अधिक मिलता है। दुर्भाग्यवश इसका बायाँ हिस्सा खंडित मिला है। पं० हरिहरनिवास द्विवेदीने इस चित्रका विवरण इस प्रकार दिया है "इस दृश्यमें एक स्त्री मध्यभागमें खड़ी हुई अत्यन्त सुन्दर भावभंगीसे नृत्य कर रही है। स्तनोंपर एक लंबा वस्त्र बँधा हुआ है, जिसका किनारा एक ओर लटक रहा है। बाएँ हाथमें पोंहचेसे कोहनी तक चूड़ियाँ भरी हुई हैं। दाहिने हाथमें संभवतः एक-दो ही चूड़ियाँ हैं। कमरके नीचे अत्यन्त चुश्त धोती (या पायजामा) पहने हुई है जिसपर दोनो ओरकी किंकिणियोंकी झालरें लटक रही हैं।

पैरोंमें सादा चूड़े हैं। कानोंमें झूमरदार कर्णाभरण हैं। यद्यपि इस स्त्रीके चारों ओर नौ स्त्रियाँ विविध वादन बजाती हुई दिखाई गई हैं, परन्तु उनका प्रसाधन इतनी बारीकी और विस्तारसे नहीं बतलाया गया है। ये वाद्य बजानेवाली स्त्रियाँ गद्दियोंपर बैठी हैं। टूटे हुए कोनेमें एक स्त्री-मूर्तिका केवल एक हाथ बचा है। वाद्योंमें दो तारोंके वाद्य हैं। दाहिनी ओरका वाद्य समुद्रगुप्तकी मुद्रापर अंकित वीणाके समान है। बाँयी ओरका वाद्य आजके वायोलिनकी बनावटका है। एक स्त्री ढपली जैसा वाद्य बजा रही है। उसके पश्चात् एक स्त्री संभवतः पंखा अथवा चमटी लिए है। फिर एक स्त्री मंजीर बजा रही है और एक बिना वाद्यके है। इसके पश्चात् मृदंगवादिनी है। कोनेकी टूटी मूर्तिके बादकी स्त्री वेणु बजा रही है। बीचमें दीपक जल रहा है। इन सबके केश-विन्यास पृथक्-पृथक् प्रकारके हैं।" ऐसा लगता है कि इसी प्रकारके किसी दृश्यका वर्णन हर्षचरितमें बाणभट्टने किया है।

विवाहादिके अवसरपर अन्तःपुरोंमें जिस मनोहर नृत्यगानका आयोजन होता था वह संयत, मोहक, शिष्ट होता था। उस समय पद्म-किंजल्कोंकी धूलिसे दिशाएँ पिंजरित हो उठती थीं, कुरंटक मालाओंसे सजी हुई भित्तियाँ जगमग करती रहती थीं, मालती मालासे वलयित सुन्दरियाँ मृणाल-वलयमें वन्दी चन्द्रमण्डलका स्मरण दिला देती थीं, वीणा वेणु और मुरजके झंकारसे अन्तःपुर कोलाहलमय हो उठता था। संगीत इस प्रकारके उत्सवोंका प्रधान उपादान होता था। बाणभट्टकी गवाहीपर हम कह सकते हैं कि विवाहकी प्रत्येक क्रियाके समय पुरोहितकी मन्त्रगिराके समान ही कोकिलकंठियोंका गान आवश्यक माना जाता था। ऐसे अवसरोंके गान महज मनोविनोद या आमोद-उल्लासके साधन नहीं होते थे बल्कि, विश्वास किया जाता था कि वे देवताओंको प्रसन्न करेंगे, अमंगलोंको दूर करेंगे और वर-वधूको अशेष सौभाग्यसे अलंकृत करेंगे।

५५—समाज

यहाँ यह कह रखना उचित है कि कामसूत्रसे हमें कई प्रकारकी नाच, गान और रसालापसम्बन्धी सभाओंका पता मिलता है। एक तरहकी सभा हुआ करती थी, जिसे समाज कहा करते थे। यह सभा सरस्वतीके मन्दिरमें नियत तिथिको हर पखवारे हुआ करती थी। इसमें जो लोग आते थे, वे निश्चय ही अत्यंत सुसंस्कृत

नागरिक हुआ करते थे। इस सभामें जो नाचने-गानेवाले, नागरिकका मनोविनोद किया करते थे, उनमें अधिकांश नियुक्त हुआ करते थे। किन्तु समय-समयपर अन्य स्थानोंसे आए हुए कुशीलव या नाच-गानके उस्ताद भी इसमें अपनी कलाका प्रदर्शन किया करते थे। दूसरे दिन इन्हें पुरस्कार दिया जाता था। जब कभी कोई बड़ा उत्सव हुआ करता था, तो इन समाजोंमें कई स्वतन्त्र और आगन्तुक नर्तक और गायक सम्मिलित भावसे अपनी कलाका प्रदर्शन करते थे। इनकी खातिरदारी करना समूचे गण अर्थात् नागरिक समाजका धर्म हुआ करता था। केवल सरस्वतीके मन्दिरमें ही ऐसे उत्सव हुआ करते हों सो बात नहीं है, अन्यान्य देवताओंके मन्दिरमें भी यथा-नियम हुआ करते थे। (कामसूत्र, पृ० ५०-५१)

रामायण (अयोध्याकांड ६७ अ०) में बताया गया है जिस देशमें राजाका शासन नहीं होता वहाँ अनेक प्रकारके उपद्रव होते हैं। इन उपद्रवों और अव्यवस्थाओंमें आदि कविने निम्नलिखित बातोंको भी गिनाया है—(१) अराजक देशमें लोग सभा नहीं करा सकते (६७-१२), न रम्य उद्यान बना सकते हैं (६७-१२), (३) नट और नर्तक प्रहृष्ट होकर भाग ले सकें ऐसे 'उत्सव' और 'समाज' ही करा सकते हैं। ये समाज और उत्सव राष्ट्रवर्धन होते हैं। (४) और ऐसे देशके जनपदोंमें लोग ऐसे उद्यान नहीं बना सकते जहाँ सायंकाल स्वर्णालंकारोंसे अलंकृत कुमारियाँ क्रीड़ाके लिये मिलित होती हैं (६७-१७), फिर (५) ऐसे देशमें विलासी नागरिक स्त्रियोंके साथ शीघ्रवाही रथोंपर चढ़कर शहरके बाहर विनोदके लिये नहीं जा सकते (६७-१९)। यह भी बताया गया है कि (६) ऐसे देशमें शास्त्र-विचक्षण व्यक्ति वनों और उपवनोंमें शास्त्र-विनोद नहीं कर पाते हैं। इनपर ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट लगता है कि यहाँ सभा, समाज, उद्यान-यात्रा, उपवन-विनोद आदि बातें वही हैं, जिनका कामसूत्रमें उल्लेख है। परवर्ती कालके टीकाकार रामभट्टने सभाका अर्थ न्याय-विचार करनेवाली सभा किया है और 'समाज' का अर्थ विशेष राष्ट्र-प्रयोजनवाले समूह किया है। ऐसा जान पड़ता है कि वे पुरानी परंपराकी ठीक व्याख्या नहीं कर सके। यहाँ आदिकविका अभिप्राय यही जान पड़ता है कि जिस देशमें अच्छा शासक नहीं होता वहाँके नागरिक धर्म, अर्थ, कामका उपभोग स्वतंत्रतापूर्वक नहीं कर सकते। ऊपर जो बातें कही गई हैं वे कामोपभोगकी हैं। कामसूत्रसे इसकी ठीक-ठीक व्याख्या हो जाती है। 'समाज' बहुत पुरानी संस्था थी। अशोकने अपने लेखोंमें कामशास्त्रीय समाजोंको रोकनेका आदेश दिया था। इन लेखोंमें यह भी स्पष्ट कर

दिया गया है कि जो 'समाज' भले कार्योंके लिये हों वे निषिद्ध नहीं हैं। कामसूत्रसे स्पष्ट है कि समाजमें शास्त्रालाप भी होते थे। संभवतः अशोक जिन समाजोंको वर्जनीय नहीं समझते वे ऐसे ही दूसरे ढंगके समाज होते थे।

इसी प्रकार नागरिकोंके मनोविनोदके लिये एक और तरहकी भी सभा बैठा करती थी, जिसे गोष्ठी कहा करते थे। ये गोष्ठियाँ नागरिकके घरपर या किसी गणिकाके घर भी हुआ करती थीं। इनमें निश्चय ही चुने हुए लोग निमन्त्रित होते थे। गणिकाएँ, जो उन दिनों अपनी विद्या, कला और रसिकताके कारण सम्मानकी दृष्टिसे देखी जाती थीं, नागरिकोंके घरपर होनेवाली गोष्ठियोंमें निमन्त्रित होकर आती थीं और सिर्फ नृत्य-गीतसे ही नहीं, बहुविध काव्य-समस्याएँ, मानसी काव्य-क्रिया, पुस्तक-वाचन, दुर्वाचक योग, देश-भाषा-विज्ञान, छन्द, नाटक आख्यान, आख्यायिकासम्बन्धी आलोचनाओं और रसालापोंसे भी नागरिकोंका मनोविनोद किया करती थीं। भासके नाटकों, तथा ललितविस्तर आदि बौद्ध काव्योंसे पता चलता है कि ये गोष्ठियाँ उन दिनों बहुत प्रचलित थीं और रईसीका आवश्यक अंग मानी जाती थीं। यह जरूर है कि कभी-कभी लोगोंमें इस प्रकारकी गोष्ठियोंके विषयमें निन्दा भी होती थी। वात्स्यायनने भले आदमियोंको निन्दित गोष्ठियोंमें जानेका निषेध किया है (पृ० ५८-५६)। इन गोष्ठियोंके समान ही एक और सभा नागरिकोंकी बैठा करती थी, जिसे वात्स्यायनने आपानक कहा है। इसमें मद्य-पानकी व्यवस्था होती थी, पर हमारे विषयसे उसका दूरका ही सम्बन्ध है। दो और सभाएँ—उद्यान-यात्रा और समस्याक्रीड़ा कामसूत्रमें बताई गई हैं, जिनकी चर्चा यहाँ नहीं करेंगे। अशोकके शिलालेखोंसे स्पष्ट है कि ऐसे समाज भद्रसमाजमें बहुत हीन समझे जाते थे और राजा उनके आयोजकोंको दण्ड दिया करता था। ये विकृत रुचिके प्रचारक थे।

५६—स्थायी रंगशाला और सभा

बहुत पुराने जमानेसे ही संगीत, अभिनय और काव्यालापके लिये स्थायी सभाओंकी व्यवस्था हुआ करती थी। संगीत-रत्नाकर एक बहुत परवर्ती ग्रंथ है। यह प्रधान रूपसे संगीत शास्त्रकी व्याख्या करनेके उद्देश्यसे लिखा गया था। यद्यपि यह ग्रंथ बहुत बादका है तथापि इसमें प्राचीनकालकी परम्पराएँ भी सुरक्षित हैं। इस

पुस्तकमें संगीतके आयोजनके लिये स्थापित सभाका बड़ा भव्य वर्णन दिया हुआ है। इसे ग्रंथकारने रंगशाला नाम दिया है।

इस संगीत-रत्नाकर (१३५१-१३६०) में रत्नस्तम्भ-विभूषित पुष्प-प्रकर-शोभित नाना वितान-सम्पन्न अत्यन्त समृद्धिशाली रंगशालाका उल्लेख है। इसके बीचमें सिंहासनपर सभापति बैठा करते थे। इस सभापतिमें सभी प्रकारकी कला-मर्मज्ञता और विवेकशीलताका होना आवश्यक माना गया है। सभापतिकी बाईं ओर अन्तःपुरकी देवियोंके लिये और दाहिनी ओर प्रधान अमात्यादिके लिये स्थान नियत हुआ करते थे। इन प्रधानोंके पीछे कोशाध्यक्ष और अन्यान्य करणाधिप या अफसर रहा करते और इनके निकट ही लोक-वेदके विचक्षण विद्वान्, कवि और रसिक जन बैठा करते थे। बड़े-बड़े ज्योतिषी और वैद्योंका आसन विद्वानोंमें हुआ करता था। इसी ओर मन्त्रिमण्डली बैठती थी। बाईं ओर अन्तःपुरिकाओंकी मंडली बैठा करती थी। सभापतिके पीछे रूप-यौवन-संभारशालिनी चारु-चामर-धारिणी स्त्रियाँ धीरे-धीरे चँवर डुलाया करती थीं, जो अपने कंकण-झंकारसे दर्शकोंका चित्त मोहती रहती थीं। सामनेकी बाईं ओर कथक, वन्दी और कलावंत आदि रहा करते थे। सभाकी शान्ति-रक्षाके लिये दक्ष वेत्रधर भी तैयार रहते थे।

राजशेखरने काव्यमीमांसामें एक और प्रकारकी सभाका विधान किया है, जो मनोरंजक है। इसके अनुसार राजाके काव्य-साहित्यादिकी चर्चाके लिये जो सभा-मंडप होगा, उसमें सोलह खंभे, चार द्वार और आठ अटारियाँ होंगी। राजाका क्रीड़ा-गृह इसीसे सटा हुआ होगा। इसके बीचमें चार खम्भोंको छोड़कर हाथ-भर ऊँचा एक चबूतरा होगा और उसके ऊपर एक मणिजटित वेदिका। इसीपर राजाका आसन होगा। इसके उत्तरकी ओर संस्कृत भाषाके कवि बैठेंगे। यदि एक ही आदमी कई भाषाओंमें कवित्व करता हो, तो जिस भाषामें अधिक प्रवीण हो वह उसी भाषाका कवि माना जायगा। जो कई भाषाओंमें बराबर प्रवीण हो, वह जहाँ चाहे उठकर बैठ सकता है। संस्कृत कवियोंके पीछे वैदिक, दार्शनिक, पौराणिक स्मृति-शास्त्री, वैद्य, ज्योतिषी आदिका स्थान होगा। पूर्वकी ओर प्राकृत भाषाके कवि और उनके पीछे नट, नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवन, कुशीलव, तालावचर आदि रहेंगे। पश्चिमकी ओर अपभ्रंश भाषाके कवि और उनके पीछे चित्रकार, लेपकार, मणिकार, जौहरी, सुनार, बढ़ई, लोहार आदिका स्थान होगा। दक्षिण-की ओर पैशाची भाषाके कवि होंगे और उनके पीछे वेश्या, वेश्या-लम्पट, रस्सोंपर

नाचने वाले नट, जादूगर, जम्भक, पहलवान, सिपाही आदिका स्थान निर्दिष्ट रहेगा। इस विवरणसे ही प्रकट है कि राजशेखरकी बनाई हुई यह सभा मुख्यतः कवि-सभा है, यद्यपि नाचने-गानेवालोंकी उपस्थितिसे अनुमान होता है कि इस प्रकारकी सभामें अवसर विशेषपर गान वाद्य और नृत्यका भी आयोजन हो सकता था।

जो संगीत-भवन स्थायी हुआ करते थे, उनके स्थानपर मृदंग-स्थापनकी जगहें बनी होती थीं। कादम्बरीमें एक जगह इस प्रकारकी उपमा दी गई है, जिससे इस व्यवस्थाका पता चलता है 'सङ्गीतभवनमिवानेकस्थानस्थापितमृदङ्गम्।' यह मृदङ्ग उन दिनोंकी सङ्गीतकी मजलिसका अत्यन्त आवश्यक उपादान था। कालिदासने सङ्गीत प्रसंग उठते ही 'प्रसक्तसंगीतमृदंगघोष' कहकर इस बातकी ओर इंगित किया है।

५७ — गणिका

इन सभाओंमें गणिकाका आना एक विशेष आकर्षक व्यापार था। यहाँ यह स्पष्ट समझ जाना चाहिए कि गणिका यद्यपि वारांगना ही हुआ करती थीं, तथापि कामसूत्रसे जान पड़ता है कि वह साधारण वेश्याओंसे कहीं अधिक सम्मान-का पात्र मानी जाती थी। वेश्याओंमें जो सबसे सुन्दरी और गुणवती होती थी, उसे ही 'गणिका' की आख्या मिलती थी। राजा लोग उसका सम्मान करते थे—

आभिरभ्युच्छ्रिता वेश्या शीलरूपगुणान्विता।
लभते गणिकाशब्दं स्थानं च जनसंसदि॥
पूजिता च सदा राज्ञा गुणवद्भिश्च संस्तुता।
प्रार्थनीयाभिगम्या च लक्ष्यभूता च जायते॥

(नाटयशास्त्रमें गणिकाके गुण पृ० ३६७)

ललितविस्तरमें राजकुमारीको गणिकाके समान शास्त्रज्ञा बताया गया है (शास्त्रे विधिज्ञकुशला गणिका यथैव)। ये गणिकाएँ शास्त्रकी जानकार और कवित्वकी रसिका हुआ करती थीं। राजशेखरने काव्य-मीमांसामें इस बातको सिद्ध करना चाहा है कि पुरुषके समान स्त्रियाँ भी कवि हो सकती हैं और प्रमाणस्वरूप वे कहते हैं कि सुना जाता है कि प्राचीन कालमें बहुत-सी गणिकाएँ और राजदुहिताएँ

बहुत उत्तम कवि हो गई हैं । इन गणिकाओंकी पुत्रियोंको नागरकजनके पुत्रोंके साथ पढ़नेका अधिकार था । गणिका वस्तुतः समस्त गण (या राष्ट्र) की सम्पत्ति मानी जाती थी और बौद्ध साहित्यसे इस बातका प्रमाण खोजा जा सकता है कि वह समस्त समाजके गर्वकी वस्तु समझी जाती थी । संस्कृतके नाटकमें उसे नगरश्री कहा गया है । मृच्छकटिक नाटकमें वसन्तसेना नामक एक ऐसी ही गणिकाका प्रेम-वृत्तान्त चित्रित किया गया है । सारे नाटकमें एक जगह भी वसन्तसेनाका नाम लघु भावसे नहीं लिया गया । अदालतके प्रधान अधिकरणिकसे लेकर कायस्थतक उसके-प्रति अत्यन्त सम्मानका भाव प्रकट करते हैं । उसकी वृद्धा माता जब गवाही देनेके लिये आती है, तो उसे अधिकरणिक भी 'आर्या' कहकर सम्बोधन करते हैं । इन सब बातोंसे जान पड़ता है कि अत्यन्त प्राचीन कालमें गणिका यथेष्ट सम्मानीया मानी जाती थी । वैशालीकी अम्बपालिका गणिका समस्त नगरीके अभिमानकी वस्तु थी । गणिकाके सम्मानका अन्दाजा मृच्छकटिककी इस कथासे भी लग सकता है कि राज्य-की ओरसे जब सब गाड़ियोंकी तलाशी करनेकी कठोर आज्ञा थी, तब भी पुलिसके सिपाहियोंमेंसे किसी-किसीने सिर्फ यह जानकर ही चारुदत्तकी गाड़ीकी तलाशी नहीं ली कि उसमें वसन्तसेना थी । आजके जमानेमें और गाड़ियाँ चाहे छोड़ दी जातीं, पर वारविलासिनीकी गाड़ीकी तलाशी जरूर ली जाती । पर बादमें गण-राज्योंके उठ जानेके बादसे गणिकाका सम्मान भी जाता रहा । परवर्ती कालमें ठीक इसी सम्मान और आदरकी अधिकारिणी वारवनिताका उल्लेख नहीं मिलता । गण-राज्योंके साथ जो गणिकाका सम्बन्ध था, वह मनुके उस एक साथ कहे हुए निषेध वाक्यसे भी जाना जाता है, जिसमें कहा गया है कि ब्राह्मणको गणान्न और गणिकान्न नहीं ग्रहण करना चाहिए (मनु० ४-२०९) ।

परन्तु इस काव्य-नाटकके रोमांस-बहुल वातावरणमें गणिकाकी इतनी प्रशंसा देखकर यह नहीं समझना चाहिये कि इस नारी जातिकी आत्मवंचना, अवभावना और गंजना एकदम नहीं थी । गणिकाएँ जितने भी आदरके साथ क्रीड़ाशालाओंमें बुलाई जाती हों, वे नारीत्वके अपमानका ही प्रतीक बनी रहीं । कभी-कभी राजाओं और रईसोंकी ओरसे उनकी भयंकर दुर्गति की जाती है । अंजनाकी दूसरी गुहामें एक अत्यन्त करुण चित्र है जिसमें शास्त्रपाणि राजा क्रोध-कषायित नेत्रोंसे देखता हुआ एक नर्तकीको दंड दे रहा है । हतभागिनीकी संपूर्ण दीनता, लज्जा और ग्लानि चित्रमें साकार हो उठी है । पाँच स्त्रियाँ उसमें और हैं । सबकी मुद्राओंमें भय,

कातरता, दीनयाचना और विह्वलता ऐसी चित्रित है कि सारा वातावरण काँपता-सा जान पड़ता है। गणिकाको प्रेम-प्रस्तावके ठुकरानेका वैसा भयंकर परिणाम हो सकता है यह मृच्छकटिकके शकारके आचरणसे स्पष्ट है और फिर विटोंकी उस बस्ती-में जो 'बंधुल' नामके भाग्यहीन बच्चे पैदा होते थे उनकी अवस्था तो कल्पना की जा सकती है। इस शोभा और कलाकी ज्योति-शिखासे पैदा होनेवाले कालिखकी कहानी गोपनीय ही रखना ठीक है—अयं पटः संवृत एव शोभते !!

५८—अभिनेताओंकी सामाजिक मर्यादा

गणिकाके अतिरिक्त जो स्त्री-पुरुष अभिनय आदिका पेशा करते थे, वे समाजमें किस दृष्टिसे देखे जाते थे, इस विषयमें प्राचीन ग्रन्थोंमें दो तरहकी बातें पाई जाती हैं। धर्म-ग्रन्थोंके अनुसार तो निश्चित रूपसे उन्हें बहुत ऊँचा स्थान नहीं दिया गया। मनु० (८-६५) और याज्ञवल्क्य (२-७०) तो उनकी दी हुई गवाहीको भी प्रामाणिक नहीं मानते। इसका कारण शायद यह है कि वे अत्यन्त झूठे और फरेबी माने जाते रहे होंगे। जायाजीव, रूपजीव आदि शब्दोंसे नटोंको निर्देश करनेसे जान पड़ता है कि ये अपनी पत्नियोंके रूपका व्यवसाय किया करते थे। इस बातका समर्थन इस प्रकार भी होता है कि मनुने नटीके साथ बलात्कार करनेवाले व्यक्तिको कम दण्ड देनेका विधान किया है (मनु० ८-३६२)। स्मृति-ग्रन्थोंमें यह भी कहा गया है कि इनके हाथका अन्न अभोज्य है। इस प्रकार धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे विचार किया जाय, तो नाचनेका पेशा बहुत निकृष्ट माना जाता था। जान पड़ता है कि शुरूमें जब नाट्यकला उन्नत नहीं हुई थी और नट लोग पुतलियोंको नचाकर या इसी तरहके अन्य व्यवसायोंसे जीविका उपार्जन करते थे, तबसे ही समाजमें उनके प्रति एक अवज्ञाका भाव रह गया था। पर जैसे-जैसे नाटकीय कला उत्कर्षको प्राप्त करती गई वैसे-वैसे इनकी सामाजिक मर्यादा भी ऊँची उठती गई। पर सब-मिलकर समाजकी दृष्टिमें वे बहुत ऊँचे नहीं उठे।

नाट्य-शास्त्रके युगमें भी इनकी सामाजिक मर्यादा गिर चुकी थी। भरत नाट्य-शास्त्रमें अभिनयको बहुत महिमापूर्ण बताया गया है और इस शास्त्रको 'नाट्यवेद' की महत्त्वपूर्ण आख्या दी गई है। परन्तु फिर भी सभाकार 'भरतपुत्रों' की हीन सामाजिक मर्यादाके प्रति सचेत हैं। शास्त्रमें इसका कारण भी बताया गया

है (३६-३०-४७)। एक बार भरतपुत्रों (नटों) ने ऋषियोंके अंगहारके अभिनयमें 'अग्राह्य, दुराचारपूर्ण, ग्राम्यधर्मप्रवर्तक, निष्ठुर और अप्रशस्त' काव्यकी योजना की थी। इससे ऋषि लोग क्रुद्ध हो गए और उन्होंने इनको भयंकर अभिशाप दिया। उस समय तक ये लोग 'द्विज' थे। पर ऋषियोंने शाप दिया कि चूँकि तुमने हमारे चरित्रका विडम्बन किया है जो एकदम अनुचित है, अतएव तुम्हारे वंशधर शूद्र हो जाएँगे, अब्रह्मचारी होंगे, स्त्री-पुत्रसमेत नर्तक और 'उपाख्यानवान्' होंगे। 'उपाख्यानवान्' शब्दका एक अर्थ है स्तुतिगायक, खुशामदी, चाटुकार और दूसरा अर्थ है काम-विलास। इस प्रकार ऋषिशापसे अभिशप्त भरत-पुत्र शूद्र और अब्रह्मचारी हुए। इस कथाको यदि ऐतिहासिकताकी ओर घसीटा जाय तो इसका अर्थ यह हो सकता है कि पहले नटोंकी सामाजिक मर्यादा अच्छी थी, पर जब इन्होंने ऋषियोंका भी 'कैरिकेचर' (विडंबनम्) शुरू किया और कुछ उच्छृंखल आचारणोंका परिचय दिया तो समाजके नियामकोंने इनकी मर्यादा हीन बना दी। कथामें यह भी कहा गया है कि देवताओंने बहुत प्रयत्न किया पर ऋषि लोगोंने उनकी प्रार्थनापर ध्यान नहीं दिया और इनकी मर्यादा हीन ही बनी रही। भरतमुनिने आगे अपने 'पुत्रों' को अभिनयके पवित्र कार्यसे इस पापका प्रायश्चित्त करते रहनेकी सलाह दी है। स्पष्ट है कि शास्त्रकारको यह आशा नहीं थी कि अब इनकी मर्यादा ऊपर उठ सकती है। यद्यपि नाटकों, काव्यों और कामशास्त्रीय ग्रन्थोंसे इनकी उच्चतर सामाजिक मर्यादाके प्रमाण संग्रह किए जा सकते हैं, परन्तु समाजकी मनोभावनाको समझनेके लिये इन ग्रन्थोंकी अपेक्षा स्मृति-ग्रन्थोंकी गवाही कहीं अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय है।

५६—ताण्डव और लास्य

नाट्यशास्त्रमें दो प्रकारके नाचोंका विस्तृत उल्लेख है, ताण्डव और लास्य। ताण्डवके प्रसंगमें मुनियोंने भरतमुनिसे प्रश्न किया कि यह नृत्त (ताण्डव) किस-लिये भगवान् शंकरने प्रवृत्त किया, तो भरतमुनिने उत्तर दिया था कि नृत्त किसी अर्थकी अपेक्षा नहीं रखता। यह शोभाके लिये प्रयुक्त होता है। स्वभावतः ही प्रायः लोग इसे पसन्द करते हैं और यह मंगलजनक है, इसीलिये शिवजीने इसे

६०—अभिनय

सबसे पहले ब्राह्मण लोग कुतप नामक वाद्यविन्यास विधिपूर्वक कर लेते थे; फिर भाण्ड वाद्यके बजानेवालोंके साथ नर्तकी प्रवेश करती थी, उसकी अंजलिमें पुष्प होते थे। एक विशेष प्रकारकी नृत्य-भंगीसे वह रंग-स्थलपर पुष्पोपहार रखती थी। फिर देवताओंको विशेष भंगीसे नमस्कार करके वह अभिनय आरम्भ करती थी। जब वह गानेके साथ अभिनय करती थी, तब बाजा बजना बन्द रहता था और जब वह अंगहारका प्रयोग करने लगती थी, तब वाद्य भी बजने लगते थे। इस प्रकार गीत और नृत्यके पश्चात् नर्तकी रंगशालासे बाहर निकलती थी और फिर इसी विधानसे अन्यान्य नर्तकियाँ रंगभूमिमें पदार्पण करती थीं और बारी-बारीसे पिंडी-बंधोंका अभिनय करती थीं (ना० शा० ४, २६६-७७)।

प्राचीन साहित्यमें इस मनोहर नृत्य अभिनयके अनेक उल्लेख हैं। यहाँपर एकका उल्लेख किया जा रहा है, जो कालिदासकी सरस लेखनीसे निकला है। यह चित्र इतना भावव्यंजक और सरस है कि उसपर विशेष टीका करना अनुचित जान पड़ता है। मालविकाग्निमित्र नाटकमें दो नृत्याचार्योंमें अपनी कला-चातुरीके सम्बन्धमें तनातनी होती है। यह तय पाता है कि अपनी-अपनी शिष्याओंका अभिनय दोनों दिखाएँ और अपक्षपातिनी भगवती कौशिकी, दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है इस बातका निर्णय करें। दोनों आचार्य राजी हो गए। मृदंग बज उठा। प्रेक्षागारमें दर्शकगण यथास्थान बैठ गए। भिक्षुणीकी अनुमतिसे रानीकी परिचारिका मालविकाके शिक्षक आचार्य गणदास यवनिकाके अन्तरालसे सुसज्जिता शिष्या (मालविका) को रंगभूमिमें ले आए। यह पहले ही स्थिर हो गया था कि चलित नृत्य—जिसमें अभिनेता दूसरेकी भूमिकामें उतरकर अपने ही मनोभाव व्यक्त करता है—के साथ होनेवाले अभिनयको दिखाया जाएगा। मालविकाने गान शुरू किया। मर्म यह था कि दुर्लभ जनके प्रति प्रेमपरवशा प्रेमिकाका चित्त एक बार पीड़ासे भर उठता है, और फिर आशासे उल्लसित हो उठता है, बहुत दिनोंके बाद फिर उसी प्रियतमको देखकर उसीकी ओर वह आँखें बिछाए है। भाव मालविकाके सीधे हृदयसे निकले थे, कण्ठ उसका करुण था। उसके अतुलनीय सौन्दर्य, अभिनयव्यंजित अंगसौष्ठव, नृत्यकी अभिराम भंगिमा और कंठके मधुर संगीतसे राजा और प्रेक्षकगण मन्त्र-मुग्धसे हो रहे। अभिनयके बाद ही जब मालविका पर्देकी ओर जाने लगी, तो विदूषकने किसी बहाने

उसे रोका। वह ठिठककर खड़ी हो गई—उसका बायाँ हाथ कटिदेशपर विन्यस्त था, उसका कंकण कलाईपर सरक आया था, दाहिना हाथ शिथिल श्यामा लताके समान सीधा झूल पड़ा था, झुकी हुई दृष्टि पादपर अड़ी हुई थी, जहाँ पैरके अँगूठे फर्शपर बिछे हुए पुष्पोंको धीरे-धीरे सरका रहे थे और कमनीय देहलता नृत्य-भंगीसे ईषदुन्नीत थी—मालविका ठीक उसी प्रकार खड़ी हुई, जिस सौष्ठवके साथ देह-विन्यास करके अभिनेत्रीको रंगभूमिमें खड़ा होना उचित था।

वामं सन्धिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामाविटपिसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम्।
पादांगुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्यादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम्।

परिव्राजिका कौशिकीने दाद दी—अभिनय बिल्कुल निर्दोष है। बिना बोले भी अभिनयका भाव स्पष्ट ही प्रकाशित हुआ है, अंगविक्षेप बहुत सुन्दर और चातुरी-पूर्ण हुआ है! जिस-जिस रसका अभिनय हुआ है, उस-उस रसमें तन्मयता स्पष्ट लक्षित हुई है। भाव चेष्टा सजीव होकर स्पष्ट हुई है, मालविकाने बलपूर्वक अन्य विषयोंसे हमारे चित्तको अभिनयकी ओर खींच लिया है—

अंगैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः,
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ,
भावो भावं नुदति विषयाद्रागबंधः स एव।

इस श्लोकमें कालिदासने उस युगके अभिनयका सजीव आदर्श अंकित किया है।

६१—अभिनयके चार अंग

यह समझना भूल है कि अभिनयमें केवल अंगोंकी विशेष प्रकारकी भंगिमाएँ ही प्रधान स्थान अधिकार करती थीं। अभिनयके चारों अंगों अर्थात् आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक—पर समान भावसे जोर दिया जाता था। आंगिक अर्थात् देह-सम्बन्धी अभिनय उन दिनों चरम उत्कर्षपर था। इसमें देह मुख और चेष्टाके अभिनय शामिल थे। सिर, हाथ, कटि, वक्ष, पार्श्व और पैर इन अंगोंके सैकड़ों प्रकारके अभिनय नाट्यशास्त्र और अभिनयदर्पण आदि ग्रंथोंमें गिनाए गए हैं। नाट्यशास्त्रमें

विस्तारपूर्वक बताया गया है कि किस अंग या उपांगके अभिनयका क्या विनियोग है, अर्थात् वह किस अवसरपर अभिनीत हो सकता है। फिर नाना प्रकारके घूमकर नाची जानेवाली भंगिमाओंका भी विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। फिर वाचिक अर्थात् वचनसंबन्धी अभिनयको भी उपेक्षणीय नहीं समझा जाता था। नाट्य-शास्त्रमें कहा गया है (१५-२) कि वचनका अभिनय बहुत सावधानीसे करना चाहिए क्योंकि यह नाट्यका शरीर है, शरीर और पोशाकके अभिनय वाक्यार्थको ही व्यंजित करते हैं। उपयुक्त स्थलोंपर उपयुक्त यति और काकु देकर बोलना, नाम आख्यात-निपात-उपसर्ग-समास-तद्धित-विभक्ति-संधि आदिको ठीक-ठीक प्रकट करना, छंदोंको उचित ढंगसे पढ़ सकना, शब्दोंके प्रत्येक स्वर और व्यंजनको उपयुक्त रीतिसे उच्चारण कर सकना, इत्यादि बातें अभिनयका प्रधान अंग मानी जाती थीं। परन्तु यही सब कुछ नहीं था। केवल शारीरिक और वाचिक अभिनय भी अपूर्ण माने जाते थे। अहार्य या वस्त्रालंकारोंकी उपयुक्त रचना भी अभिनयका ही अंग समझी जाती थी। यह चार प्रकारकी होती थी—पुस्त, अलंकार, अंगरचना और संजीव। नाटकके स्टेजको आजके समान 'रियलिस्टिक' बनानेका ऐसा पागलपन तो नहीं था, परन्तु पहाड़, रथ, विमान आदिको कुछ यथार्थताका रूप देनेके लिये तीन प्रकारके पुस्त व्यवहृत होते थे। वे या तो बाँस या सरकंडेसे बने होते थे, जिनपर कपड़ा या चमड़ा चढ़ा दिया जाता था, या फिर यंत्रादिकी सहायतासे फर्जी बना लिए जाते थे, या फिर अभिनेता इस बातकी चेष्टा करता था, जिससे उन वस्तुओंका बोध प्रेक्षकको हो जाता था (२३, ५-७)। इन्हें क्रमशः संधिम, व्याजिम और चेष्टिम पुस्त कहते थे। अलंकारमें विविध प्रकारके माल्य, आभरण, वस्त्र आदिकी गणना होती थी। अंग-रचनामें पुरुषों और स्त्रियोंके बहुविध वेष-विन्यास शामिल थे। प्राणियोंके प्रवेशको संजीव कहते थे (२३-१५२) परन्तु इन तीनों प्रकारके अभिनयोंसे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण अभिनय सात्त्विक था। भिन्न-भिन्न रसों और भावोंके अभिनयमें अभिनेता या अभिनेत्रीकी वास्तविक परीक्षा होती थी। नाट्यशास्त्रने जोर देकर कहा है कि सत्त्वमें ही नाट्य प्रतिष्ठित है (२४-१)। सत्त्वकी अधिकता, समानता और न्यूनतासे नाटक श्रेष्ठ, मध्यम या निकृष्ट हो जाता है (२४-२)। यह सत्त्व अव्यक्त रूप है, भाव और रसके आश्रयपर है, इसके अभिनयमें रोमांच अश्रु आदि-का यथास्थान और यथारस प्रयोग अभीष्ट है।

६२—नाटकके आरम्भमें

जब कोई नाटक खेला जानेवाला होता था तो उसके आरम्भमें एक बहुत आडम्बरपूर्ण विधिका अनुष्ठान किया जाता था। इसे पूर्वरंग या नाटक आरम्भ होनेके पहलेकी क्रिया कहते थे। पहले नगाड़ा बजाकर नाटक आरम्भ होनेकी सूचना दी जाती थी, फिर गायक और वादक लोग रंगभूमिमें आकर यथास्थान बैठ जाते थे, कोरस आरम्भ होता था, मृदंग, वेणु, वीणा आदि वाद्य नर्तकोंके नूपुर-झंकारके साथ बज उठते थे और इन कार्योंके बाद नाटकका उत्थापन होता था। पण्डितोंमें यहाँ तककी क्रियामें मतभेद है कि वे पर्देके पीछे होती थीं या बाहर। पर चूँकि शुरूमें ही अवतरण नामक क्रियाका उल्लेख है, इससे जान पड़ता है कि ये पर्देके पीछे न हो वास्तवमें रङ्गभूमिमें होते थे। फिर सूत्रधारका प्रवेश होता था, उसके एक पार्श्वमें भृङ्गारमें जल लिए हुए एक भृङ्गारधर होता था और दूसरी ओर जर्जर (ध्वजा) लिए हुए दूसरा जर्जर-धर। इन दोनों पारिपार्श्विकोंके साथ सूत्रधार पाँच पग आगे बढ़ आता था। उद्देश्य ब्रह्माकी पूजा होता था। यह पाँच पग बढ़ना मामूली बढ़ना नहीं है, इसके लिए एक विशेष प्रकारकी अभिनय-भंगी होती थी। फिर वह (सूत्रधार) भृङ्गारसे जल लेकर आचमन प्रोक्षणादिसे पवित्र हो लेता था। वह एक विशेष आडम्बरपूर्ण अभिनय-भङ्गीसे विघ्नको जर्जर करनेवाले जर्जर (ध्वज) को उत्तोलित करता था और भिन्न-भिन्न देवताओंको प्रणाम करता था। वह दाहिने पैरके अभिनयसे शिवको और वाम पदके अभिनयसे विष्णुको नमस्कार करता था। पहला पुरुषका और दूसरा स्त्रीका पद समझा जाता था। एक नपुंसक पद भी होता था, जब कि दाहिने पैरको नाभि तक उत्क्षिप्त कर लिया जाता था। इस भङ्गीसे वह ब्रह्माको प्रणाम करता था। फिर विधिपूर्वक चार प्रकारके पुष्पोंसे वह जर्जरकी पूजा करता था। वह वाद्य-यन्त्रोंकी भी पूजा करता था और तब नान्दी पाठ होता था। वह सर्वदेवता और ब्राह्मणोंको नमस्कार करता था, देवताओंसे कल्याणकी प्रार्थना करता था, राजाकी विजय-कामना प्रकट करता था, दर्शकोंकी धर्मवृद्धि होनेकी शुभाकांक्षा प्रकट करता था, कवि (नाटककार) को यश मिले और उसकी धर्मवृद्धि हो, ऐसी प्रार्थना करता था, और अन्तमें अपनी यह शुभकामना भी प्रकट करता था कि इस पूजासे समस्त देवता प्रसन्न हों। प्रत्येक शुभाकांक्षाकी समाप्तिपर पारिपार्श्विक लोग ऐसा

ही हो' (एवमस्तु) कहकर प्रतिवचन देते थे और नान्दी पाठ समाप्त होता था। फिर शुष्कावकृष्टा विधिके बाद वह एक ऐसा श्लोक पाठ करता था, जिसमें अवसरके अनुकूल बातें होती थीं, अर्थात् वह या तो जिस देवताकी विशेष पूजाके अवसरपर नाटक खेला जा रहा था, उस देवताकी स्तुतिका श्लोक होता था, या फिर जिस राजाके उत्सवपर अभिनय हो रहा है उसकी स्तुतिका। या फिर वह ब्रह्माकी स्तुतिका पाठ करता था। फिर जर्जरके सम्मानके लिए भी वह एक श्लोक पढ़ता था और फिर चारी नृत्य शुरू होता था। इसकी विस्तृत व्याख्या और विधि नाट्यशास्त्रके ग्यारहवें अध्यायमें दी हुई है। यह चारीका प्रयोग पार्वतीकी प्रीतिके उद्देश्यसे किया जाता था। क्योंकि पूर्वकालमें कभी शिवने इस विशेष भंगीसे ही पार्वतीके साथ क्रीड़ा की थी। इस सविलास अंगविचेष्टितरूप चारीके बाद महाचारीका विधान भी नाट्यशास्त्रमें दिया हुआ है। इस समय सूत्रधार जर्जर या ध्वजाको पारिपार्श्विकोंके हाथमें दे देता था। फिर भूतगणकी प्रीतिके लिए ताण्डवका भी विधान है। फिर विदूषक आकर कुछ ऐसी ऊलजुलूल बातें करता था, जिससे सूत्रधारके चेहरेपर स्मित-हास्य छा जाता था और फिर प्ररोचना होती थी, जिसमें नाटकके विषय-वस्तु अर्थात् किसकी कौन-सी जीत या हारकी कहानी अभिनीति होने-वाली है, ये सब बातें बता दी जाती थीं, और अब वास्तविक नाटक शुरू होता था। शास्त्रमें ऊपरकी कही बातें विस्तारपूर्वक कही गई हैं। परन्तु साथ ही यह भी कहा गया है कि इस क्रियाको संक्षेपमें भी किया जा सकता है। और यदि इच्छा हो तो और भी विस्तारपूर्वक करनेका निर्देश देनेमें भी शास्त्र चूकता नहीं। ऊपर बताई हुई क्रियाओंके प्रयोगसे यह विश्वास किया जाता था कि अप्सराएँ, गन्धर्व, दैत्य, दानव, राक्षस, गुह्यक, यक्ष तथा अन्यान्य देवगण और रुद्रगण प्रसन्न होते हैं और नाटक निर्विघ्न समाप्त होता है। नाट्यशास्त्रके बादके इसी विषयके लक्षणग्रन्थोंमें यह विधि इतनी विस्तारपूर्वक नहीं कही गई है। दशरूपक, साहित्यदर्पण आदिमें तो बहुत संक्षेपमें इसकी चर्चा भर कर दी गई है। इस बातसे यह अनुमान होता है कि बादको इतने विस्तार और आडम्बरके साथ यह क्रिया नहीं होती होगी। विश्वनाथके साहित्यदर्पणसे तो इतना स्पष्ट ही हो जाता है कि उनके जमानेमें इतनी विस्तृत क्रिया नहीं होती थी। जो हो, सन् ईसवीके पहले और बहुत बादमें भी इस प्रकारकी विधि रही जरूर है।

६३—अभिनेताओंके विवाद

कभी-कभी अभिनेताओंमें अपने-अपने अभिनय-कौशलकी उत्कृष्टताके सम्बन्धमें कलह उपस्थित हो जाता था। साधारणतः यह विवाद दो श्रेणीके होते थे शास्त्रीय और लौकिक। शास्त्रीय विवादका एक सरल उदाहरण कालिदासके मालविकाग्निमित्रमें है। इसकी चर्चा हम अन्यत्र कर आए हैं। इसमें रस, भाव, अभिनय-भंगिमा, मुद्राएँ, चारियाँ आदि विचारणीय होती थीं। कुछ दूसरे विवाद ऐसे होते थे जिनमें लोक-जीवनकी चेष्टाओंके उपस्थापनपर मतभेद हुआ करता था। उस समय राजा प्राश्निक नियुक्त करता था। प्राश्निकके लक्षण नाट्यशास्त्रमें दिए हुए हैं। यदि वैदिक क्रिया-कलाप-विषयक कोई विवाद होता था तो यज्ञविद् कर्मकाण्डी निर्णायक (प्राश्निक) नियुक्त होता था। यदि नाचकी भंगीमें विवाद हुआ तो नर्तक निर्णायक होता था; इसी प्रकार छन्दके मामलेमें छन्दोविद्, पाठ-विस्तारके मामलेमें वैयाकरण, राजकीय विभव या राजकीय अन्तःपुरका आचरण या राजकीय आचरणका विषय हो तो राजा स्वयं निर्णायक होता था। नाटकीय सौष्ठवका मामला होता था तो राजकीय दरबारके अच्छे वक्ता बुलाए जाते थे। प्रणामकी भंगिमा, आकृति और उसकी चेष्टाएँ, वस्त्र और आभरणकी योजना और नेपथ्य-रचनाके प्रसंगमें चित्रकारोंको निर्णायक बनाया जाता था और स्त्री-पुरुषके परस्पर आकर्षणवाले मामलोंमें गणिकाएँ उत्तम निर्णायक समझी जाती थीं। भृत्यके आचरणके विषयमें विवाद उपस्थित हुआ तो राजाके भृत्य प्राश्निक होते थे। (२७-६२-६७) अवश्य ही जब शास्त्रीय विवाद उपस्थित हो जाता था तो शास्त्रके जानकारोंकी नियुक्ति होती थी।

६४—नाटकोंके भेद

अभिनीयमान नाटकोंमें सब प्रकारके मनोरंजक और रसोद्दीपक रूपक होते थे। शृङ्गार, वीर या करुणरसप्रधान ऐतिहासिक 'नाटक,' नागरिक रईसीकी कवि कल्पित प्रेम-कथाओंके 'प्रकरण,' धूर्तों और दुष्टोंका हास्योत्तेजक उपस्थापन-मूलक 'भाण,' स्त्रीहीन, वीररसप्रधान एकांकी 'व्यायोग,' और तीन अंकका 'समवकार,' भयानक दृश्योंको दिखानेवाला भूत-प्रेत पिशाचोंका उपस्थापक 'डिम,' स्वर्गीय

प्रेमिकाके लिए जूझ पड़नेवाले प्रेमियोंकी सनसनी फैलानेवाली प्रतिद्वंद्वितावाला 'ईहामृग,' स्त्री-शोककी करुण-कथा-समन्वित एकांकी 'अंक,' एक ही पात्रद्वारा अभिनीयमान विनोद और शृङ्गार-प्रधान 'वीथी,' हँसानेवाला 'प्रहसन' आदि रूपक बहुत लोकप्रिय थे। फिर बहुत तरहके उपरूपक भी थे, जिनमें नाटिकाका प्रचलन सबसे अधिक था। यह स्त्रीप्रधान चार अंकका नाटक होता था और और इसका कार्यक्षेत्र साधारणतः राजकीय अन्तःपुर तक ही सीमित था। प्रकरणिका सट्टक और त्रोटक इसी श्रेणीके हैं। गोष्ठीमें नौ दस पुरुष और पाँच या छः स्त्रियाँ अभिनय करती थीं, हल्लीशमें एक पुरुष कई स्त्रियोंके साथ नृत्य करता था। इसी प्रकारके और बहुतसे छोटे-मोटे रूपकोंका अभिनय होता था। परवर्ती ग्रन्थोंमें अट्ठारह प्रकारके उपरूपक गिनाए गए हैं। उपर्युक्त उपरूपकोंके सिवा नाट्यरासक है, प्रख्यान है, उल्लास्य है, काव्य है, प्रेंखण है, रासक है, संलापक है, श्रीगदित है, शिल्पक है, विलासिका है, दुर्मल्लिका है, मांणिका है। अचरजकी बात यह है कि इतने विशाल संस्कृत-साहित्यमें इन उपरूपकोंमेंसे अधिकांशको उदाहरणस्वरूप समझनेके लिए भी मुश्किलसे एकाध पुस्तक मिल पाती है। कभी-कभी तो एक भी नहीं मिलती। सम्भवतः ये लोकनाट्य रूपमें ही जीते हों। उदाहरणके लिये समवकार नामक रूपक—जिसमें देवासुर-संघर्ष ही बीज होता है; नायक प्रख्यात और उदात्त चरितका (असुर ?) होता है और जिसमें तीन प्रकारके प्रेम, तीन प्रकारके कपट तथा तीन प्रकारके विद्रव या उत्तेजनामूलक घटनाएँ हुआ करती हैं; जिसमें बारह या अधिक अभिनेता हो सकते थे तथा जो लगभग सात सवा सात घण्टेमें खेला जाता था—इसका पुराना नमूना नहीं मिलता। वत्सराजका समुद्र-मंथन (१२ वीं शताब्दी) बहुत बादकी रचना है और भासके 'पंचविंश' नाटकके समवकार होनेमें सन्देह प्रकट किया गया है। सात-सात घंटे तक चलनेवाले ऐसे पौराणिक नाटकको लोक-नाट्य समझना ही उचित जान पड़ता है। परवर्ती कालमें जब रंगमंच बहुत उन्नत हो गया होगा और कालिदास जैसे कल्प कविके नाटक उपलब्ध होने लगे होंगे तो ये लम्बे नाटक उपरले स्तरके समाजमें उपेक्षित हो गए होंगे। साधारण जनतामें ये फिर भी प्रचलित रहे होंगे और आजकलकी रामलीलासे पुराने लौकिक रूपका थोड़ा अन्दाजा लगाया जा सकता है। इसी प्रकार ईहामृग डिम आदिके भी पुराने नमूने नहीं प्राप्त होते। बारहवीं शताब्दीके कवि वत्सराजने नाट्य लक्षणोंका अध्ययन करके इनके नमूने बनाये थे। उनके समवकारकी चर्चा ऊपर हो चुकी है।

उनका 'रुक्मिणीहरण' ईहामृगका उदाहरण है। परन्तु पुराना उदाहरण नहीं मिलता। स्पष्ट है कि शास्त्रकारने केवल पुस्तकी विद्याका ही विश्लेषण नहीं किया है बल्कि उन दिनों जितने प्रकारके नाटक और अभिनय प्रचलित थे सबका विश्लेषण किया है। परवर्ती शास्त्रकारोंकी दृष्टि इतनी उदार और व्यापक नहीं थी।

६५—ऋतुसम्बन्धी उत्सव

प्राचीन काव्यों, नाटकों, आख्यायिकाओं और कथाओंसे जान पड़ता है कि भारतवर्ष ऋतु-सम्बन्धी उत्सवोंको भली भाँति मनाया करता था। इन उत्सवोंमें दो बहुत प्रसिद्ध हैं—वसन्तोत्सव और कौमुदीमहोत्सव। पहला वसन्त ऋतुका उत्सव है और दूसरा शरद् ऋतुका। संस्कृतका शायद ही कोई उल्लेखयोग्य कवि हो जिसने किसी-न-किसी बहाने इन दो उत्सवोंकी चर्चा न की हो। वसन्तोत्सवके विषयमें यह बात तो अधिक निश्चयके साथ कही जा सकती है। कालिदास जैसे कविने अपने किसी ग्रन्थमें वसन्तका और उसके उत्सवका वर्णन करनेका मामूली मौका भी नहीं छोड़ा। मेघदूत वर्षाका काव्य है, पर यक्षप्रियाके उद्यानका वर्णन करते समय प्रियाके चरणोंके आघातसे फूट उठनेवाले अशोक और मुखकी मदिरासे सिंचकर खिल उठनेवाले बकुलके बहाने कविने वहाँ भी वसन्तोत्सवको याद किया है। आगे चलकर हम देखेंगे कि यह अशोक और बकुलका दोहद उत्पन्न करना वसन्तोत्सवका एक प्रधान अंग था।

वसन्तके कई उत्सव हैं। इनमें सुवसन्तक और मदनोत्सवका वर्णन सबसे ज्यादा आता है। किसी-किसी पण्डितने दोनोंको एक उत्सव मानकर गलती की है। वात्स्यायनके कामसूत्रमें यक्षरात्रि, कौमुदीजागर और सुवसन्तक—ये तीनों उत्सव समस्या-क्रीड़ाके प्रसंगमें दिए हुए हैं अर्थात् इन उत्सवोंको नागरिक लोग एकत्र होकर मनाते थे। एक बहुत बादके आचार्य यशोधरने सुवसन्तकका अर्थ मदनोत्सव बताया है। उसीपरसे यह भ्रम पण्डितोंमें फैल गया है। हम आगे चलकर देखेंगे कि सुवसन्तक वस्तुत: अलग उत्सव था और उसके मनानेकी विधि भी दूसरे प्रकारकी थी। कामसूत्रमें होलिका नामक एक अन्य उत्सवका उल्लेख है जो आधुनिक होली-के रूपमें अब भी जीवित है। प्राचीन ग्रन्थोंसे जान पड़ता है कि मदनोत्सव फागुनसे लेकर चैत्रके महीने तक मनाया जाता था। इसके दो रूप होते थे, एक सार्वजनिक

धूमधामका और दूसरा अन्तःपुरिकाओंके परस्पर विनोद और कामदेवके पूजनका। इसके प्रथम रूपका वर्णन सुप्रसिद्ध सम्राट् हर्षदेवकी रत्नावलीमें इतने मनोहर और सजीव ढंगसे अंकित है कि उस उत्सवका अन्दाजा लगानेके लिये उससे अधिक उपयोगी और कोई वर्णन नहीं हो सकता। इस सार्वजनिक धूमधामके अतिरिक्त इसका एक शान्त सहज रूप और भी था। उसका थोड़ा-सा आभास पाठकोंको भवभूति जैसे कविकी शक्तिशाली लेखनीकी सहायतासे दिया जायगा।

६६—संगीत

संगीतका प्रचार इस देशमें बहुत पुराने जमानेसे है। वैदिककालमें ही सात स्वरोंका विभाजन किया गया गया था, यद्यपि उनके नाम ठीक वही नहीं थे जो परवर्ती कालमें प्रचलित हो गए। वैदिक साहित्यमें दुंदुभि, भूमिदुंदुभि, आघाति आदि आतोद्य बाजे बन चुके थे और वीणा, काण्डवीणा आदि वीणा-जातीय तंत्री यंत्र भी बन गए थे। रामायण और महाभारतमें अनेक वाद्ययंत्रोंके नाम आते हैं और सप्त स्वरों और बाईस श्रुतियोंकी चर्चा आती है। भरतके नाट्य-शास्त्रमें इसकी शास्त्रीय विवेचना मिलती है जो बहुत संक्षिप्त भी है और अस्पष्ट भी। इस ग्रंथमें स्वर, ग्राम, श्रुति, मूर्छना आदिकी व्याख्या है। रागका उल्लेख इस ग्रंथमें नहीं पाया जाता पर इसके ही समान अर्थोंमें 'जाति' का व्यवहार किया गया है। संगीतकी जातियाँ अठारह बताई गई हैं। मतंग नामक आचार्यका बृहद्देशी ग्रंथ प्रथम बार रागका उल्लेख करता है। ग्रंथके नामसे ही स्पष्ट है कि मतंगके सामने देशी 'राग' पर्याप्त थे और वे संभवतः 'शास्त्रीय' संगीत 'जाति' से अलग ढंगके थे। मतंग संभवतः सन् ईसवीकी चौथी पाचवीं शताब्दीमें हुए थे। उन्होंने देशी संगीतकी परिभाषा इस प्रकार की है—स्त्रियाँ, बालक, गोपाल और क्षितिपाल अपनी इच्छासे जिन गानोंका गायन करते हैं—अर्थात् किसी प्रकार-की शास्त्रीय शिक्षाके बिना ही आनन्दोल्लासवश गाते हैं—वे 'देशी' कहलाते हैं—

अबलाबालगोपालैः क्षितिपालैर्निजेच्छया।
गीयते सानुरागेण स्वदेशे देशिरुच्यते।

'राग'का परिचय कालिदासको भी था। क्योंकि 'तवास्मि गीतरागेण'में राग शब्दका व्यवहार लगभग आधुनिक अर्थमें ही है। कुछ लोग तो इस श्लोकके

'सारंगेण' पदका श्लिष्ट अर्थ करके यह भी बताना चाहते हैं कि सारंग रागका भी उन्हें परिचय था। यदि यह व्याख्या ठीक हो तो कालिदासके युगसे उन प्रमुख रागोंका अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है जो बादमें बहुत प्रमुख होकर आए हैं। पर इस व्याख्याके माननेमें कुछ ऐतिहासिक अड़चनें बताई जाती हैं। १३वीं शताब्दीके शार्ङ्गदेवने इन्हें 'अधुना प्रसिद्ध' कहा है।

६७—मदनोत्सव

सम्राट् श्री हर्षदेवके विवरणसे जान पड़ता है कि दोपहरके बाद सारा नगर मदनोत्सवके दिन पुरवासियोंकी करतल-ध्वनि, मधुर संगीत और मृदंगके मधुर घोषसे मुखरित हो उठता था, नगरके लोग (पौर जन) मदमत्त हो जाते थे। राजा अपने ऊँचे प्रासादकी सबसे उपरवाली चन्द्रशालामें बैठकर नगरवासियोंके आमोद-प्रमोदको देखा करते थे। नगरकी कामिनियाँ मधुपान करके ऐसी मतवाली हो जाती थीं कि सामने जो कोई पुरुष पड़ जाता उसपर पिचकारी (शृङ्गक)के जलकी बौछार करने लगती थीं। बड़े-बड़े रास्तोंके चौराहे मर्दल नामक बाजेके गम्भीर घोष और चर्चरीकी ध्वनिसे शब्दायमान हो उठते थे। ढेर-का-ढेर सुगन्धित अबीर दसों दिशाओंमें इतना उड़ता रहता था कि दिशाएँ रंगीन हो उठती थीं। जब नगरवासियोंका आमोद पूरे चढ़ावपर आ जाता तो नगरीके सारे राजपथ केशर-मिश्रित अबीरसे इस प्रकार भर उठते थे मानो उषाकी छाया पड़ रही हो। लोगोंके शरीरपर शोभायमान अलंकार और सिरपर पहने हुए अशोकके लाल फूल, इस लाल-पीले सौन्दर्यको और भी अधिक बढ़ा देते थे। ऐसा जान पड़ता था कि नगरीके सभी लोग सुनहरे रंगमें डुबो दिए गए हैं।

> कीर्णैः पिष्टातकौघैः कृतदिवसमुखैः कुंकुमक्षोदगौरैः
> हेमालंकारभाभिर्भरनमितशिखैः शेखरैः कैंकिरातैः।
> एषा वेषाभिलक्ष्यस्वभवनविजिताशेषवित्तेशकोषा
> कौशाम्बी शातकुंभद्रवखचितजनेवैकपीता विभाति।
>
> (रत्ना०—१-११)

राजकीय प्रासाद तथा अन्य समृद्धिशाली भवनोंके सामनेवाले आंगनमें निरन्तर फव्वारा छूटा करता था, जिससे अपनी-अपनी पिचकारीमें जल भरनेकी होड़-सी

मची रहती थी। इस स्थानपर पौरयुवतियोंके बराबर आते रहनेसे उनकी माँगके सिन्दूर और गालके अबीर झरते रहते थे, सारा आँगन लाल कीचड़से भर जाता था और फर्श सिन्दूरमय हो उठता था।

धारायंत्रविमुक्तसन्ततपयःपूरप्लुते सर्वतः
सद्यः सान्द्रविमर्दकर्दमकृतक्रीडे क्षणं प्रांगणे।
उद्दामप्रमदाकपोलनिपतत्सिन्दूररागारुणैः
सैन्दूरीक्रियते जनेन चरणन्यासैः पुरः कुट्टिमम्॥

(रत्नावली, १-१२)

उस दिन वेश्याओंके मुहल्लेमें सबसे अधिक हुड़दंग दिखाई देता था। रसिक नागरिक पिचकारियोंमें सुगन्धित जल भरकर वेश्याओंके कोमल शरीरपर फेंका करते थे और वे सीत्कार करके सिहर उठती थीं। वहाँ इतना अबीर उड़ता था कि सारा मुहल्ला अन्धकारमय हो जाता।

अन्तःपुरकी रसिका परिचारिकाएँ हाथमें आम्र-मंजरी लिए हुए द्विपदी-खंडका गान करतीं, नृत्य करने लगती थीं। इस दिन इनका आमोद मर्यादाकी सीमा पार कर जाता था। वे मदपानसे मत्त हो उठती थीं। नाचते-नाचते उनके केशपाश शिथिल हो जाते थे, कवरी (जूड़ा) को बाँधनेवाली मालती-माला खिसककर न जाने कहाँ गायब हो जाती थी, पैरके नूपुर झटकन-मटकनके वेगको न सँभाल सकनेके कारण दुगुने जोरसे झनझनाते रहते थे—नगरीके भीतर और बाहर सर्वत्र आमोद और उल्लासकी प्रचंड आँधी बह जाती थी।

स्रस्तः स्रग्दामशोभां त्यजति विरचिता-
व्याकुलः केशपाशः।
क्षीबाया नूपुरौ च द्विगुणतरमिमौ
क्रन्दतः पादलग्नौ।
व्यस्तः कम्पानुबंधादनवरतमुरो
हन्ति हारोऽयमस्याः।
क्रीडन्त्याः पीड़येव स्तनभरविनमन्
मध्यभंगानपेक्षम्॥

मदनोत्सवके सार्वजनिक उत्सवका एक अपेक्षाकृत अधिक शान्त-स्निग्ध चित्र भवभूतिके मालती-माधव नामक प्रकरणमें पाया जाता है। उत्सवके दिन मदनोद्यानमें,

जो विशेष रूपसे इसी उत्सवका उद्यान होता था और जिसमें कामदेवका मन्दिर हुआ करता था, नगरके स्त्री-पुरुष एकत्र होते थे और भगवान् कन्दर्पकी पूजा करते थे। वहाँ सब लोग अपनी इच्छाके अनुसार फूल चुनते, माला बनाते, अबीर कुंकुमसे क्रीड़ा करते और नृत्य-गीत आदिसे मनोविनोद किया करते थे। इस मन्दिरमें प्रतिष्ठत परिवारकी कन्याएँ भी आतीं और मदन देवताकी पूजा करके मनोभिलाषित वरकी प्रार्थना किया करती थीं। लोगोंकी भीड़ प्रातःकालसे ही शुरू हो जाती और सायंकाल तक अबाध चलती रहती थी। 'मालती-माधव' में वर्णित मदनोद्यानमें अमात्य भूरिवसुकी कन्या मालती भी पूजनके लिए और उत्सव मनानेके लिए गई थी। सशस्त्र पुरुषोंसे सुरक्षित एक विशाल हाथीकी पीठपर बैठकर वह आई थी और उसीपर बैठकर लौट गई थी। मालती सखियोंसमेत मदनोद्यानमें सैर करने भी गई थी। इससे जान पड़ता है कि इस मेलेमें केवल साधारण नागरिक ही नहीं आते थे सम्भ्रान्तवंशीया कन्याएँ भी घूम फिर सकती थीं।

मदनोत्सवके इन दो वर्णनोंके पढ़नेसे पाठकोंके मनमें इनके परस्पर विरोध होनेकी शंका हो सकती है। पहले वर्णनमें नगरके लोग नगरमें ही सायंकाल मदमत्त हो उठते थे पर दूसरे वर्णनसे जान पड़ता है कि वे सवेरेसे लेकर शाम तक मदनोद्यानके मेलेमें जाया करते थे। परन्तु असलमें यह विरोध नहीं है। वस्तुतः मदनोत्सव कई दिन तक मनाया जाता था। समूचा वसन्त ऋतु ही उत्सवोंसे भरा होता था। पुराण ग्रन्थोंके देखनेसे जान पड़ता है कि मदनोत्सव चैत्र शुक्ल द्वादशीको शुरू होता था। उस दिन लोग व्रत रखते थे। अशोक वृक्षके नीचे मिट्टीका कलश स्थापन किया जाता था। उसमें सफेद चावल भर दिए जाते थे। नाना प्रकारके फल और ईख विशेष रूपसे पूजोपहारका काम करती थी। कलशको सफेद वस्त्रसे ढक दिया जाता था और श्वेत चन्दन छिड़का जाता था। कलशके ऊपर एक ताम्रपत्र रखा जाता या और उसके ऊपर कदली दल बिछाकर कामदेव और रतिकी प्रतिमा बनाई जाती थी। नाना भाँतिके गंध-धूपसे और नृत्य-वाद्यसे कामदेवको प्रसन्न करनेका प्रयत्न किया जाता था (मत्स्यपुराण ७ म अध्याय)। इसके दूसरे दिन अर्थात् चैत्र शुक्ल त्रयोदशीको भी मदनकी पूजा होती थी और सम्मिलित भावसे स्तुति की जाती थी। चैत्र शुक्ल चतुर्दशीकी रातको केवल पूजा ही नहीं होती थी, नाना प्रकारके अश्लील गान भी गाए जाते थे और पूर्णिमाके दिन छककर उत्सव मनाया जाता था। सम्भवतः त्रयोदशीवाला उत्सव ही मदनोद्यानका उत्सव है

और पूर्णिमावाला रत्नावलीमें वर्णित मदनोत्सव ।

६८—अशोकमें दोहद

इस उत्सवका सबसे अधिक आकर्षक और सरस रूप अन्तःपुरके अशोक वृक्ष-तले होनेवाली मदन-पूजा है। महाराज भोजदेवके सरस्वती-कंठाभरणमें स्पष्ट ही लिखा है कि यह उत्सव त्रयोदशीके दिन होता था, उस दिन कुसुम्भ रंगकी कंचुकी मात्र धारण करनेवाली तरुणियाँ छक कर उत्सव मनाया करती थीं। महाकवि कालिदासके मालविकाग्निमित्रसे और श्रीहर्षदेवकी रत्नावलीसे इस उत्सवकी एक झलक मिल जाती है। मालविकाग्निमित्रसे जान पड़ता है कि उस दिन मदनदेवकी पूजाके पश्चात् अशोकमें दोहद उत्पन्न किया जाता था। यह दोहद-क्रिया इस प्रकार होती थी—कोई सुन्दरी सब प्रकारके आभरण पहनकर पैरोंमें महावर लगाकर और नूपुर धारणकर बायें चरणसे अशोक वृक्षपर आघात करती थी। इस चरणाघातकी विलक्षण महिमा थी। अशोक वृक्ष नीचेसे ऊपर तक पुष्प-स्तवकों (गुच्छों) से भर जाता था। साधारणतः रानी ही यह कार्य करती थीं, परन्तु मालविकाग्निमित्रमें वर्णित घटनाके दिन उनके पैरमें चोट आ गई थी इसलिए अपनी परिचारिकाओंमें सबसे अधिक सुन्दरी मालविकाको ही उन्होंने इस कार्यके लिए नियुक्त किया था। मालविकाकी एक सखी बकुलावलिकाने उसे महावर और नूपुर पहना दिए। मालविका अशोक वृक्षके पास गई, उसके पल्लवोंके एक गुच्छेको हाथसे पकड़ा, फिर दाहिनी ओर जरा झुकी और बायें पैरको धीरेसे उठाकर अशोक वृक्षपर एक मृदु आघात किया। नूपुर जरा-सा झुनझुना गया और यह आश्चर्य-जनक सरस कृत्य समाप्त हुआ। राजा इस उत्सवमें सम्मिलित नहीं हुए थे, बादमें संयोगवश आ उपस्थित हुए थे। रानीकी अनुपस्थिति ही शायद उनकी अनुपस्थितिका कारण थी। पर रत्नावलीवाले वर्णनमें रानीने ही प्रधान हिस्सा लिया था, वहाँ राजा और विदूषक उपस्थित थे और अन्तःपुरकी अन्य परिचारिकाएँ भी मौजूद थीं। अपनी सबसे सुन्दर परिचारिका सागरिकाको रानीने जान-बूझकर वहाँसे हटा दिया था। अशोक वृक्षके नीचे सुन्दर स्फटिक-विनिर्मित आसनपर रानीने राजाको बैठाया, पास ही दूसरे आसनपर, वसन्तक नामक विदूषक भी बैठ गया। काञ्चनमाला नामक प्रधान परिचारिकाने रानीके सुन्दर कोमल हाथोंमें अबीर कुंकुम चन्दन और

पुष्प-संभार दिए। रानीने पहले मदनदेवकी पूजा की और फिर पुष्पांजलि पतिके चरणोंपर बिखेर दी। ब्राह्मण वसन्तकको यथारीति दक्षिणा दी गई। यह सब कार्य सायंकालके आसपास हुए क्योंकि पूजा विधिके समाप्त होते ही वैतालिकोंने सन्ध्याकालीन स्तुति पाठ की और राजाने पूर्वकी ओर देखा कि कुंकुम और अबीरमें लिपटे हुए चन्द्रदेव प्राचीदिशाको लाल बनाकर उदय-मंचपर आसीन हुए। इस दिन पूर्णिमा थी।

श्री भोजदेवके सरस्वती-कंठाभरणसे यह भी जान पड़ता है कि यह किसी निश्चित तिथिका उत्सव नहीं था। जिस किसी दिन इसका अनुष्ठान हो सकता था। इस उत्सवका विशेष नाम 'अशोकोत्तंसिका' था (पृ० ५७४)।

शारदातनयके भावप्रकाशमें वसन्तके निम्नलिखित उत्सवोंका उल्लेख है (पृ० १३७)—अष्टमी-चन्द्र, शक्रार्चा या इन्द्रपूजन, वसन्त या सुवसन्तक, मदनोत्सव, बकुल और अशोकके वृक्षोंके पास विहार और शाल्मली-मूल-खेलन या एक शाल्मली-विनोद। इसके अतिरिक्त निदाघ कालके कई विनोद भी वसन्तमें मनाए जा सकते होंगे। क्योंकि शारदातनयने निदाघ (ग्रीष्मके) उत्सवोंके पहले यह लिख दिया है कि ये प्रायः ग्रीष्म ऋतुके हैं अर्थात् अन्य ऋतुमें भी इनका निषेध नहीं है। कामसूत्रकी जयमंगला टीकासे कई विनोदोंका वसन्तमें मनाया जाना निश्चित है। इस निदाघमें प्रायः मनाए जानेवाले उत्सवोंके नाम ये हैं—उद्यान-यात्रा, सलिल-क्रीड़ा (जल-क्रीड़ा) पुष्पावचायिका (फूल चुनना), नवाम्रखादनिका (नए आमका खाना) और आम और माधवी लताका विवाह। इनमें प्रायः सभी वसन्तके वर्णनके सिलसिलेमें प्राचीन ग्रन्थोंमें वर्णित हैं। जलक्रीड़ा और नये आमका खाना भी वसन्तके अन्तिम दिनोंमें असम्भव नहीं है।

६६—सुवसन्तक

सरस्वतीकंठाभरणके अनुसार सुवसन्तक वसन्तावतारके दिनको कहते हैं। अर्थात् जिस दिन प्रथम बार वसन्त पृथ्वीपर उतरता है। इस तरह आजकलके हिसाबसे यह दिन वसन्तपंचमीको पड़ना चाहिए। मात्स्यसूक्त और हरिभक्तिविलास आदि ग्रन्थोंके अनुसार इसी दिन प्रथम वसन्तका प्रादुर्भाव होता है। इसी दिन मदनकी पहली पूजा विहित है। इसी दिन उस युगकी विलासिनियाँ कंठमें दुष्प्राप्य

नव आम्रमंजरी धारण करके ग्रामको जगमग कर देती थीं :

> अणुणिट्ठिअघनरसरि महुमअतम्बच्छि कुवलआहरणे ।
> कंठकअचूअमंजरि पुत्ति तुए मंडिओ गामो ॥
>
> —सरस्वती-कंठाभरण पृ० ५७५

और कालिदासके ऋतुसंहारसे स्पष्ट है कि पुराने गर्म कपड़ोंको फेंककर कोई लाक्षारससे या कुंकुमके रंगसे रंजित और सुगन्धित कालागुरुसे सुवासित हल्की लाल साड़ियाँ पहनती थीं, कोई कुसुम्भी दुकूल धारण करती थीं और कोई-कोई कानोंमें नवीन कर्णिकारके फूल, नील अलकों (=केशों) में लाल अशोकके फूल और वक्षःस्थलपर उत्फुल्ल नव-मल्लिकाकी माला धारण करती थीं :

> गुरूणि वासांसि विहाय तूर्णं तनूनि लाक्षारसरंजितानि ।
> सुगन्धिकालागुरुधूपितानि धत्तेंगना काममदालसाङ्गी ॥१३॥
> कुसुम्भरागारुणितैर्दुकूलैर्नितम्बबिंबानि विलासिनीनाम् ।
> रक्तांशुकैः कुंकुमरागगौरैरलंक्रियन्ते स्तनमण्डलानि ॥१४॥
> कर्णेषु योग्यं नवकर्णिकारं चलेषु नीलेष्वलकेष्वशोकः ।
> पुष्पं च फुल्लं नवमल्लिकायाः प्रयाति कान्तिं प्रमदाजनस्य ॥१६॥

७०—उद्यान-यात्रा

उन दिनों वसन्त ऋतुकी उद्यानयात्रा और वन-यात्राएँ काफी मजेदार होती थीं। कामसूत्र (पृ० ५३) में लिखा है कि निश्चित दिनको दोपहरके पूर्व ही नागरिक गण सजधज कर तैयार हो जाते थे। घोड़ोंपर चढ़करके किसी दूरस्थित उद्यान या वनकी ओर—जो एक दिनमें ही लौट आने योग्य दूरीपर होता था, जाया करते थे। कभी-कभी इनके साथ गणिकाएँ भी होती थीं और कभी-कभी अन्तःपुरकी गृहदेवियाँ होती थीं। इन उद्यान-यात्राओंमें कुक्कुट (मुर्गे) लाव बटेरों आदि और मेष अर्थात् भेड़ोंकी लड़ाइयाँ हुआ करती थीं। ये युद्ध काफी उत्तेजक होते थे और लड़नेवाले पशु-पक्षी लहूलुहान हो जाते थे। इनकी नृशंसता देखकर ही शायद सम्राट् अशोकने अपने शिलालेखोंमें इनकी मनाहीका फर्मान जारी किया था। तो इन उद्यानयात्राओं या पिकनिक-पार्टियोंमें हिंदोल-लीला, समस्या-पूर्ति, आख्यायिका,

विंदुमती, आदि प्रहेलिकाओंके खेल होते थे। वसन्तकालीन वनविहारमें कई उल्लेख-योग्य खेल यहाँ दिए जा रहे हैं। क्रीड़ैकशाल्मली या शाल्मली-मूल-खेलन नामका विनोद कामसूत्र, भावप्रकाश और सरस्वतीकंठाभरण आदि ग्रन्थोंमें दिया हुआ है। ठीक-ठीक यह किस तरहका होता था, कुछ समझमें नहीं आता। पर किसी एक ही फूलोंसे लदे सेमरके पेड़ तले आँखमिचौनी खेलनेके रूपमें यह रहा होगा। सेमरका पेड़ ही क्यों चुना जाता था, यह समझमें नहीं आता। शायद उन दिनों वसन्तमें लाल कपड़े पहने जाते थे और यह कुसुम-निर्भर (लाल फूलोंसे लदा) पेड़ लूका-चोरी खेलनेका सर्वोत्तम साधन रहा हो। आजकल यह किसी प्रदेशमें किसी रूपमें जी रहा है कि नहीं, नही मालूम। यहाँ यह कह रखना उचित है कि कामसूत्रकी जयमंगला टीकाके अनुसार इस विनोदका प्रचलन विदर्भ या बरार प्रान्तमें अधिक था।

७१—वसन्तके अन्य उत्सव

उदकक्ष्वेडिका भी पुराना विनोद है। यह होलीके दिन अब भी निस्सन्देह जी रहा है, और ऊपर श्री हर्षदेवकी गवाहीसे हमने मदनोत्सवका जो वर्णन पढ़ा है उसपरसे निश्चित रूपसे अनुमान किया जा सकता है कि आज वह अपने मूल रूपमें ही जीता है। बाँसकी पिचकारियोंमें सुगन्धित जल भरकर युवकगण अपने प्रियजनों-को सराबोर कर देते थे। यही उदकक्ष्वेडिका कहा जाता था। इसका उल्लेख काम-सूत्रमें भी है। और जयमंगला टीकाके अनुसार इस विनोदका प्रचलन मध्य देशमें ही अधिक था। नागरिकाएँ जब अनंगदेव (कामदेव) की पूजाके लिये आम्र-मंजरी चुनकर बादमें कानोंमें पहननेको निकलती थीं तो उनके परस्पर हास-विलाससे यह कार्य अत्यन्त सरस हो उठता था। पुरुष कभी अलग और कभी स्त्रियोंके साथ इस चयन-कार्यको करते थे। इसे चूत-भंजिका कहते थे। वसन्तकालमें फूल चुनना उन दिनोंके नागरिकाओंके लिये एक खासा मनोविनोद था। इसे पुष्पावचायिका कहते थे। भोजदेव तो कहते हैं कि सुन्दरियोंकी मुखमदिरासे सिंचनेपर जब बकुल फूलता था तब उसीके फूल चुनकर यह उत्सव मनाया जाता था (सरस्वतीकंठाभरण पृ० ५७६)। सखियोंके उपालम्भ-वाक्यों और प्रिय-हृदयोंके उल्लसित विलाससे कुसुमा-वचयका वह उत्सव बहुल स्फूर्तिप्रद होता था, क्योंकि कवियोंने जी खोलकर इसका वर्णन किया है। वसन्तकालमें जिस प्रकार प्रकृति अपने आपको निःशेष भावसे उद्बुद्ध

कर देती है उसी प्रकार जब मनुष्य भी कर सके तो उत्सव सम्भव है। प्रकृतिने अगर उल्लास प्रकट ही किया किन्तु मनुष्य जड़ीभूत बना रहा तो उत्सव कहाँ हुआ ? दूसरी ओर यदि मनुष्यने अपना हृदय खोलकर फूले हुए वृक्षों और मदिरायित मलय-पवनका आनन्द उपभोग किया तो प्रकृतिकी जो भी अवस्था क्यों न हो वह आनन्ददायक ही होगी। मनुष्य ही प्रधान है, प्रकृतिका उत्सव उसीकी अपेक्षामें होता है। संस्कृति कविने इस महासत्यका अनुभव किया था। भारतवर्षका चित्त जब स्वतन्त्र था, जब वह उल्लास और विलासका सामंजस्य कर सकता था उन दिनों मनुष्यकी इस प्रधानताका ठीक-ठीक अनुभव कर सका था। फूल तो बहुत खिलते हैं परन्तु पुष्प-पल्लवोंसे भरी हुई धरती असलमें वह है जहाँ मनुष्यके सुन्दर चरणोंका संसर्ग है, जहाँ उसका मनोभ्रमर दिनरात मँड़राया करता है:—

सन्तु द्रुमाः किसलयोत्तरपत्रभाराः
प्राप्ते वसन्तसमये कथमित्थमेव ।
न्यासैर्नवद्युतिमतोः पदयोस्तवेयं
भूः पुष्पिता सुतनु पल्लवितेव भाति ॥

(सूक्तिसहस्र)

एक और उत्सव है अभ्यूषखादनिका। गेहूँ जौ आदि शूक धान्य, तथा चना मटर आदि शमी धान्यके कच्चे पौधोंमें लगी फलियोंको भूनकर अभ्यूष और होलाका नामक खाद्य बनाए जाते थे। नागर लोग इन वस्तुओंको खानेके लिये नगरके बाहर धूमधामके साथ जाया करते थे। आजकल यह उत्सव वसन्तपंचमीके दिन मनाया जाता है।

इस प्रकार वसन्तकी हवा कुसुमित आमकी शाखाओंको कँपाती हुई आती थी, कोकिलकी हूकभरी कूक दसों दिशाओंमें फैला देती थी और शीतकालीन जड़िमासे मुक्त मानव-चित्तको जबर्दस्ती हरण कर ले जाती थी:—

आकम्पयन् कुसुमिताः सहकारशाखाः
विस्तारयन् परभृतस्य वचांसि दिक्षु ।
वायुर्विवाति हृदयानि हरन्नराणां
नीहारपातविगमात् सुभगो वसन्ते ॥

(ऋतुसंहार ६-२२)

उस समय पर्वतमालाके अनुपम सौन्दर्यसे लोगोंका चित्त विमोहित हो गया

होता था, उसके सानुदेशमें उन्मत्त कोकिल कूक उठते थे, प्रान्तभाग विविध कुसुम-समूहसे लहक उठता था, शिलापट्ट सुगन्धित शिलाजतुकी सुगन्धिसे महक उठता था और राजा लोग सब देखकर आमोद-विह्वल हो उठते थे :

नानामनोज्ञकुसुमद्रु मभूषितान्तान्
हृष्टान्यपुष्टनिनदाकुलसानुदेशान् ।
शैलेयजालपरिणद्धशिलातलौघान्
दृष्ट्वा जनः क्षितिभृतो मुदमेति सर्वः ।

(ऋ० सं० ६-२५)

७२—दरबारी लोगोंके मनोविनोद

जो लोग राजसभाओंमें बैठते थे वे भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियोंके होते थे। जब तक राजा सिंहासनपर बैठे रहते थे तब तक तो सारी सभा शान्त और संयत बनी रहती थी। दरबारी लोग अपनी-अपनी स्थिति और पदवीके अनुसार यथास्थान बैठे रहते थे, परन्तु राजाके आनेके पहले और बीचमें उनके उठ जानेपर सब लोग अपनी-अपनी रुचिके अनुसार मनोविनोदोंमें लग जाते थे। कादम्बरीमें इन मनोविनोदोंका अच्छा-सा चित्र दिया हुआ है। जब राजा सभामें उपस्थित नहीं थे उस समय कोई-कोई सामन्त पाशा खेलनेके लिये कोठे खींच रहे थे, कोई पाशा फेंक रहे थे, कोई वीणा बजा रहे थे, कोई चित्रफलकपर राजाकी प्रतिमूर्ति अंकित कर रहे थे, कोई-कोई काव्यालापमें व्यस्त थे, कोई-कोई आपसमें हँसी दिल्लगीमें मशगूल थे, कुछ लोग विन्दुमती नामक काव्यात्मक खेलमें उलझे हुए थे अर्थात् बहुतसे विन्दुओंमें अकार, उकार आदि मात्राएँ लगा दी गई थीं और उसपरसे पूरे श्लोक-का वे उद्धार कर रहे थे, कुछ लोग प्रहेलिका (पहेली) नामक काव्यभेदका रस ले रहे थे, कोई-कोई राजाके बनाए हुए श्लोकोंकी चर्चा कर रहे थे, कोई-कोई विदग्ध रसिक ऐसे भी थे जो भरी सभामें वार-विलासिनियोंके कण्ठ और कपोल आदिमें तिलक रचना कर रहे थे, कुछ लोग उन रमणियोंके साथ ठठोली कर रहे थे, कुछ लोग बन्दीजनोंसे पुराने प्रतापी राजाओंका गुणगान सुन रहे थे और इस प्रकार अपनी रुचि और सुविधाके अनुसार कालयापन कर रहे थे। राजसभाके बाहर राजा-के विशाल प्रासादके एक पार्श्वमें कहीं कुत्ते बँधे थे, कहीं कस्तूरी मृग विचरण कर

रहे थे, कहीं कुबड़े, बौने, नपुंसक, गूँगे, बहरे आदमी घूम रहे थे, कहीं किन्नर-युगल और वन-मानुष विहार कर रहे थे, कहीं सिंह व्याघ्र आदि हिंस्र जन्तुओंके पिंजड़े वर्तमान थे। ये सभी वस्तुएँ दरबारियोंके मनोविनोदका साधन थीं। स्पष्ट ही मालूम होता है कि राज दरबारके मुख्य विनोदोंमें काव्यकला सबसे प्रमुख थी। वस्तुतः राजसभामें सात अंगोंका होना परम आवश्यक माना जाता था। ये सात अंग हैं। (१) विद्वान्, (२) कवि, (३) भाट, (४) गायक, (५) मसखरे, (६) इतिहासज्ञ, और (७) पुराणज्ञ—

विद्वांसः कवयो भट्टा गायकाः परिहासकाः ।
इतिहासपुराणज्ञाः सभा सप्तांग-संयुता ॥

७३—काव्यशास्त्र-विनोद

पुराना भारत विश्वास करता था कि बुद्धिमानोंका काल काव्य-शास्त्र-विनोदमें कटता है—काव्यशास्त्रविनोदेन-कालो गच्छति धीमताम्। हमने देखा ही है कि सभा, समाज, उद्यानयात्रा, पुत्रजन्म, मेला, यात्रा कोई भी ऐसा अवसर नहीं आता था जिसमें वह काव्यालापसे विनोद न पाता हो। राजा कवि-सभाओंका नियमित आयोजन करते थे। हमने इस प्रकारकी राजसभाओंको पहले ही लक्ष्य किया है। इन सभाओंमें कवियोंकी परीक्षा हुआ करती थी। वासुदेव, सातवाहन, शूद्रक, साहसांक आदि राजाओंने इस विशालपरम्पराको चलाया था और बहुत हाल तक सभी यशोऽभिलाषी भारतीय नरेश इस परम्पराका पोषण करते आए हैं। काव्य-मीमांसामें राजशेखरने लिखा है कि राजा लोग स्वयं भी किस प्रकार भाषा और काव्यकी मर्यादापर ध्यान देते थे—अपने परिवारमें कई राजाओंने कड़े नियम बनाए थे ताकि भाषागत माधुर्य ह्रास न होने पावे। जैसे—सुना जाता है मगधमें राजा शिशुनागने यह नियम कर दिया था कि उनके अन्तःपुरमें ट, ठ, ड, ढ, ऋ, ष, स, ह, इन आठ वर्णोंका उच्चारण कोई न करे! शूरसेनके राजा कुविन्दने भी कटु संयुक्त अक्षरोंके उच्चारणका प्रतिषेध कर दिया था। कुन्तल देशमें राजा सातवाहनकी आज्ञा थी कि उनके अन्तःपुरमें केवल प्राकृत भाषा बोली जाय। उज्जयिनीमें राजा साहसांककी आज्ञा थी कि उनके अन्तःपुरमें केवल संस्कृत बोली जाय।

कवियोंका नाना भावसे सम्मान होता था। समस्याएँ दी जाती थीं, और

प्रहेलिका विन्दुमती आदिसे परीक्षा ली जाती थी। कवि लोग भी काफी सावधान हुआ करते थे। कोई उनकी रचना चुरा न ले, सुनकर याद करके अपने नामसे चला न दे इस बातका ध्यान रखते थे। राजशेखरने बताया है कि जब तक काव्य पूरा नहीं हुआ है तब तक दूसरोंके सामने उसे नहीं पढ़ना चाहिए। इसमें यह डर रहता है कि वह आदमी उस काव्यको अपना कहकर ख्यात कर देगा—फिर कौन साक्षी दे सकेगा कि किसकी रचना है? सम्मानेच्छु कवियोंमें परस्पर प्रतिस्पर्द्धा भी खूब हुआ करती थी। नाना भावसे एक दूसरेको परास्त करनेका जो प्रयत्न होता था उसकी कई मनोरंजक कहानियाँ पुराने ग्रन्थोंमें मिल जाती हैं। इस राजसभामें काव्य पाठ करना सामान्य बात नहीं थी। चिन्तासक्त मन्त्रियोंकी गम्भीर मूर्ति, सब कुछ करनेके लिये प्रतिक्षण तत्पर दूतोंकी कठोर मुखमुद्रा, प्रान्त भागमें खुफिया विभागके धूर्त मनुष्य, बहुतर ऐश्वर्यशालियोंके हाथी घोड़े लावलश्करकी अभिभूत कर देनेवाली उपस्थिति, कायस्थोंकी कुटिल भ्रुकुटियाँ और नई-नई कूटनीतिक चिन्ताओंका सर्वत्र विस्तार मामूली साहसवाले कविको त्रस्त शंकित बना देता था। एक कविने तो राजाके सामने ही इस राजसभाको हिंस्र-जन्तुओंसे भरे समुद्रके समान कहकर अपना चित्त-विक्षोभ हल्का किया था—

चिन्तासक्तनिमग्नमंत्रि-सलिलं दूतोर्मिशाखाकुलम्,
पर्यन्तस्थितचारनक्रमकरं नागाश्वहिंस्राश्रयम्।
नानावाशककंकपक्षिरुचिरं कायस्थसर्पास्पदम्,
नीतिक्षुण्णतटं च राजकरणं हिंस्रैः समुद्रायते॥

नया कवि इस राजसभामें बड़ी कठिनाईमें पड़ जाता था। एक कविने राजसभामें प्रथम बार आए हुए संभ्रमसे अभिभूत कविकी वाणीको नवविवाहिता वधूसे उपमा दी है। बिना बुलाए भी वह आना चाहती है, गलेसे उलझकर रह जाती है, पूछनेपर भी बोलती नहीं, काँपती है, स्तम्भित हो रहती है, अचानक फीकी पड़ जाती है, गला रुंध जाता है, आँख और मुँहकी रोशनी धीमी पड़ जाती है। कवि बड़े अफसोसके साथ अनुभव करता है कि वाणी है या नवोढ़ा बहू है—दोनोंमें इतनी समानता है!

नाहूतापि पुरः पदं रचयति प्राप्तोपकंठं हठात्
पृष्टा न प्रविवक्ति कम्पमयते स्तंभं समालम्बते।
वैवर्ण्यं स्वरभङ्गमञ्चति बलान्मन्दाक्षमन्दानना

कष्टं भोः प्रतिभावतोऽप्यभिसभं वाणी नवोढायते ॥

७४—काव्य-कला

स्वभावतः ही यह प्रश्न होता है कि वह काव्य क्या वस्तु है जो राजसभाओं-में सम्मान दिलाता था या गोष्ठी-समाजोंमें कीर्तिशाली बनाता था। निश्चय ही वह कुमारसम्भव या मेघदूत जैसे बड़े-बड़े रस-काव्य नहीं होंगे। वस्तुतः उक्ति-वैचित्र्य ही वह काव्य है। दण्डी जैसे आलंकारिक आचार्योंने अपने-अपने ग्रन्थोंमें स्वीकार किया है कि कवित्व-शक्ति क्षीण भी हो तो भी कोई बुद्धिमान् व्यक्ति अलंकार-शास्त्रोंके अभ्याससे राजसभाओंमें सम्मान पा सकता है (१-१०४-१०५)। राज-शेखरने उक्ति-विशेषको ही काव्य कहा है। यह यहाँ स्पष्ट रूपमें समझ लेना चाहिए कि मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि रसमूलक प्रबन्ध-काव्योंको काव्य नहीं माना जाता था या उनका सम्मान नहीं होता था; मेरा वक्तव्य यह है कि काव्य नामक कला जो राजसभाओं और गोष्ठी-समाजोंमें कविको तत्काल सम्मान देती थी वह उक्ति-वैचित्र्य मात्र थी। दुर्भाग्यवश हमारे पास वे समस्त विवरण जिनका ऐतिहा-सिक मूल्य हो सकता था उपलब्ध नहीं हैं; पर आनुश्रुतिक परम्परासे जो कुछ प्राप्त होता है उससे हमारे वक्तव्यका समर्थन ही होता है। यही कारण है कि पुरान्के अलंकार-शास्त्रोंमें रसकी उतनी परवा नहीं की गई जितनी अलंकारोंके गुणों और दोषोंकी। गुण दोषका ज्ञान वादीको पराजित करनेमें सहायक होता था और अलं-कारोंका ज्ञान उक्ति-वैचित्र्यमें सहायक होता था। काव्यकला केवल प्रतिभाका विषय नहीं माना जाता था, अभ्यासको भी विशेष स्थान दिया जाता था। राजशेखरने काव्यकी उत्पत्तिके दो कारण बतलाए हैं; समाधि अर्थात् मनकी एकाग्रता और अभ्यास अर्थात् बार बार परिशीलन करना। इन्हीं दोनोंके द्वारा 'शक्ति' उत्पन्न होती है। यह स्वीकार किया गया है कि प्रतिभा नहीं होनेसे काव्य सिखाया नहीं जा सकता। विशेषकर उस आदमीको तो किसी प्रकार कवि नहीं बनाया जा सकता जो स्वभावसे पत्थरके समान है, किसी कष्टवश या व्याकरण पढ़ते पढ़ते नष्ट हो चुका है, या 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः'' जैसे अनल-धूमशाली तर्करूपी आगसे जल चुका है या कभी भी सुकविके प्रबन्धको सुननेका मौका ही नहीं पा सका।

ऐसे व्यक्तिको तो किसी प्रकारकी भी शिक्षा दी जाय उसमें कवित्व शक्ति अ

ही नहीं सकती क्योंकि कितना भी सिखाओ गधा गान नहीं गा सकेगा और कितना भी दिखाओ अन्धा सूर्यको नहीं देख सकेगा, पहला मामला प्रकृत्या जड़का है और दूसरा नष्टसाधनका—

यस्तु प्रकृत्याश्मसमान एव काव्येन वा व्याकरणेन नष्टः ।
तर्केन दाह्योऽनलधूमिना वाऽप्यविद्धकर्णः सुकविप्रबन्धैः ॥
न तस्य वक्तृत्वसमुद्भवः स्याच्छिक्षाविशेषैरपि सुप्रयुक्तः ।
न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि संदर्शितं पश्यति नार्कमन्धः ॥

कविकंठाभरणः १-२२-२३

यह और बात है कि पूर्व जन्मके पुण्यसे मन्त्रसिद्ध कवित्व हो जाय या फिर इसी जन्ममें सरस्वतीकी साधनासे देवी प्रसन्न होकर कवित्वशक्तिका वरदान दे दें (कविकंठाभरण १-२४) परन्तु प्रतिभा थोड़ी बहुत आवश्यक तो है ही । कवित्व सिखानेवाले ग्रन्थोंका यह दावा तो नहीं है कि वे गधेको गाना सिखा देंगे परन्तु इतना दावा वे अवश्य करते हैं कि जिस व्यक्तिमें थोड़ी-सी भी शक्ति हो उसे इस योग्य बना देंगे कि वह सभाओं और समाजोंमें कीर्ति पा ले ।

७५—उक्ति-वैचित्र्य

यदि हम इस बातको ध्यानमें रखें तो सहज ही समझमें आ जाता है कि उक्तिवैचित्र्यको इन अलंकारिकोंने इतना महत्त्व क्यों दिया है । उक्तिवैचित्र्य, वाद-विजय और मनोविनोदकी कला है । भामहने बताया है कि वक्रोक्ति ही समस्त अलंकारोंका मूल है और वक्रोक्ति न हो तो काव्य ही नहीं हो सकता । भामहकी पुस्तक पढ़नेसे यही धारणा होती है कि वक्रोक्तिका अर्थ उन्होंने कहनेके विशेष प्रकारके ढंगको ही समझा था । वे स्पष्ट रूपसे ही कह गए हैं कि सूर्य-अस्त हुआ, चन्द्रमा प्रकाशित हो रहा है, पक्षी अपने अपने घोंसलोंमें जा रहे हैं इत्यादि । वाक्य काव्य नहीं हो सकते क्योंकि इन कथनोंमें कहीं वक्रभङ्गिमा नहीं है । दोष उनके मतसे उस जगह होता है जहाँ वाक्यकी वक्रता अर्थप्रकाशमें बाधक होती है । भामहके बादके आलंकारिकोंने वक्रोक्तिको एक अलङ्कार मात्र माना है । किन्तु भामहने वक्रोक्तिको काव्यका मूल समझा है । दण्डी भी भामहके मतका समर्थन कर गए हैं; यद्यपि वे वक्रोक्तिका अर्थ अतिशयोक्ति या बढ़ा चढ़ाकर कहना बता

गए हैं। वक्रोक्तिको निश्चय ही बहुत दिनों तक काव्यका एकमात्र मूल माना जाता रहा पर व्यावहारिक रूपमें कभी भी काव्य केवल वक्रोक्ति-मूलक—अर्थात् निर्दोष वक्र भंगिमाके रूप कहे हुए वाक्यके रूपमें उसका प्रयोग नहीं होता था। उन दिनों भी रसमय काव्य लिखे जाते थे और सच पूछा जाय तो सरस काव्य जितने उन दिनों लिखे गए उतने और कभी लिखे ही नहीं गए। वस्तुतः आलंकारिक लोग तब भी ठीक-ठीक काव्य-स्वरूपको समझा नहीं सके थे। कुन्तक या कुन्तल नामके एक आचार्य सम्भवतः नवीं या दसवीं शताब्दीमें हुए। उन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभाके बलपर वक्रोक्ति शब्दकी एक ऐसी व्यापक व्याख्या की जिससे वह शब्द काव्यके वास्तविक स्वरूप समझानेमें बहुत दूर तक सफल हो गया। कुन्तकके मतका सार मर्म इस प्रकार है—केवल शब्दोंमें भी कवित्व नहीं होता और केवल अर्थमें भी नहीं। शब्द और अर्थ दोनोंके साहित्यमें अर्थात् एक साथ मिलकर भाव प्रकाश करनेके सामंजस्यमें काव्यत्व होता है।

वैसे तो ऐसा कभी नहीं होगा कि शब्द और अर्थ परस्पर विच्छिन्न होकर श्रोताके समक्ष उपस्थित हों। शब्द और अर्थ तो जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजी कह गए हैं—'गिरा अर्थ जल बीचि सम कहिय तो भिन्न न भिन्न' हैं। वे एक दूसरेको छोड़कर रही नहीं सकते फिर शब्द और अर्थके साहित्यमें काव्य होता है ऐसा कहना क्या बेकारका प्रलाप मात्र नहीं है? कुन्तक जवाब देते हैं कि यहीं तो वक्रोक्तिका चमत्कार है। काव्यमें शब्द और अर्थके साहित्यमें एक विशिष्टता होनी चाहिये। जब कवि-प्रतिभाके बलपर एक वाक्य अन्य वाक्यके साथ एक विचित्र विन्यासमें विन्यस्त होता है तब एक दूसरे शब्दसे मिलकर जिस प्रकार स्वर और ध्वनि लहरीके आतान-वितानसे रमणीय माधुर्यका सर्जन करेंगे, उसी प्रकार दूसरी ओर तद्गर्भित अर्थ भी उसके साथ तुल्ययोगिता करके परस्परको एक नवीन चमत्कारसे चमत्कृत करेंगे। इसी प्रकार ध्वनिके साथ ध्वनिके मिलनेसे और अर्थके साथ अर्थके मिलनसे जो दो परस्परसे स्पर्द्धा करनेवाली चारुताएँ (सुन्दरताएँ) उत्पन्न होंगी उनका पारस्परिक सामञ्जस्य ही यहाँ साहित्य शब्दका अर्थ है। उदाहरणके लिये दो रचनाएँ ली जा सकती हैं। दोनोंमें भाव एक ही है।

चन्द्रमा धीरे-धीरे उदय होकर डरता-डरता आसमानमें चल रहा है क्योंकि मानिनियोंके गरम-गरम आँसुओं से कलुषित कटाक्षोंकी चोट उसे बार बार खानी पड़ रही है। एक कविने इसे इस प्रकार कहाः—

मानिनीजनविलोचनपातानुष्णवाष्पकलुषानभिगृह्णन् ।
मन्दमन्दमुदितःप्रययौ खं भीतभीत इव शीतमयूखः ॥

दूसरेने जरा जमके इस प्रकार कहाः —

क्रमादेकद्वित्रिप्रभृतिपरिपाटीः प्रकटयन्,
कलाः स्वैरं स्वैरं नवकमलकन्दांकुररुचः ।
पुरन्ध्रीणां प्रेयोविरहदहनोद्दीपितदृशां,
कटाक्षेभ्यो बिभ्यन् निभृत इव चन्द्रोऽभ्युदयते ॥

यहाँ दोनों कविताओंका अर्थ एक ही है पर दूसरी कवितामें शब्द और अर्थ-की मिलित चारुता-सम्पत्तिने सहृदयके हृदयमें विशेष भावसे चमत्कार पैदा किया है।

अस्तु, हमें यहाँ आलंकारियोंके बालके खाल निकालनेवाले तर्कोंको दुहराने-की इच्छा बिल्कुल नहीं है। हम केवल काव्यके उस मनोविनोदात्मक पहलूका स्मरण कराना चाहते हैं जो राज-सभाओं, सहृदय-गोष्ठियों, अन्तःपुरके समाजों और सरस्वतीय-भवनोंमें नित्य मुखरित हुआ करती थी। आगे हम इस विषयमें कुछ विस्तारसे कहनेका अवसर खोजेंगे। यहाँ इतना ही स्मरणीय है कि प्राचीन भारतीय काव्यका एक महत्त्वपूर्ण अंश कविके रचना-कौशल और सहृदयके मनोविनोदके लिए लिखा गया था। इस रचना-कौशलका जब कभी प्रदर्शन होता था तो दर्शकोंकी भीड़ लग जाया करती थी, इसमें विजयी होनेवालेका गौरव इतना अधिक था कि कभी-कभी बड़े-बड़े सम्राट् विजयी कविकी पालकीमें कंधा लगा देते थे!

७६—कवियोंकी आपसी प्रतिस्पर्द्धा

कभी-कभी परस्परकी प्रतिस्पर्द्धासे कवियोंकी असाधारण मेधाशक्ति, हाजिर-जवाबी और औदार्यका पता चलता है। कहानी प्रसिद्ध है कि नैषधकार श्री हर्ष-कविके वंशधर हरिहर नामक कवि गुजरातके राजा वीरधवलके दरबारमें आए। सभामें स्वयं उपस्थित न होकर उन्होंने अपने एक विद्यार्थीको भेजा और राजा वीरधवल मन्त्री वस्तुपाल तथा राजकवि सोमेश्वरके नाम अलग-अलग आशीर्वाद भेजे। राजा और मन्त्रीने प्रीतिपूर्वक आशीर्वाद स्वीकार किया पर कवि सोमेश्वर ईर्ष्यासे मन ही मन ऐसा जले कि उस विद्यार्थीसे बात तक नहीं की। हरिहर कविने यह बात गाँठ बाँध ली। दूसरे दिन कविके सम्मानके लिए राजसभाकी आयोजना हुई, सब आए,

सोमेश्वर नहीं आए। उन्होंने कोई बहाना बना लिया। कुछ दिन इसी प्रकार बीत गए। हरिहर पंडितका सम्मान बढ़ता गया। एक दूसरे अवसरपर राजाने हरिहर पंडितसे कहा कि पंडित, मैंने इस नगरमें वीरनारायण नामक प्रासाद बनवाया है, उसपर प्रशस्ति खुदवानेके लिए मैंने सोमेश्वर पंडितसे १०८ श्लोक बनवाए हैं, तुम भी देख लो कैसे हैं। पंडितने कहा, सुनवाइए। राजाज्ञासे सोमेश्वर पंडित श्लोक सुनाने लगे। हरिहर पंडितने सुननेके बाद काव्यकी बड़ी प्रशंसा की और बोले महाराज, काव्य हो तो ऐसा ही हो। महाराज भोजके सरस्वतीकंठाभरण नामक प्रासादके गर्भ-गृहमें ये श्लोक खुदे हुए हैं। मुझे भी याद हैं। सुनिए। इतना कहकर पंडितने सभी श्लोक पढ़कर सुना दिए। सोमेश्वरका मुँह पीला पड़ गया। राजा और मन्त्री सभीने उन्हें चोर-कवि समझा। ऊपरसे किसीने कुछ कहा नहीं परन्तु उनका सम्मान जाता रहा। सोमेश्वर हैरान थे; क्योंकि श्लोक वस्तुतः उनके ही बनाए हुए थे। मन्त्री वस्तुपाल—जो उन दिनों लघु भोजराज नामसे ख्यात थे—के पास जाकर गिड़गिड़ाकर बोले कि श्लोक मेरे ही हैं। मन्त्रीने कहा कि हरिहर पंडितकी शरण जाओ तभी तुम्हारी मान-रक्षा हो सकती है। अन्तमें सोमेश्वरने वही किया। शरणागतकी मान-रक्षाका भार कवि हरिहरने अपने ऊपर ले लिया। दूसरे दिन राजसभामें हरिहर कविने बताया कि सरस्वतीने उन्हें वर दिया है कि एक सौ आठ श्लोक तक वे एक बार सुनकर ही याद कर ले सकते हैं और सोमेश्वरको अपदस्थ करनेके लिए ही उस दिन उन्होंने एक सौ आठ श्लोक सुना दिए थे। वस्तुतः वे सोमेश्वरके ही श्लोक थे। राजाको असली वृत्तान्त मालूम हुआ तो आश्चर्यचकित रह गए और दोनों कवियोंको गले मिलवाकर दोनोंमें प्रेम-सम्बन्ध स्थापित कराया (प्रबन्धकोश १२)।

मन्त्री वस्तुपालकी सभामें इन हरिहर पण्डितका बड़ा सम्मान था। वहाँ मदन नामके एक दूसरे कवि भी थे। हरिहर और मदनमें बड़ी लाग डाँट थी। सभामें यदि दोनों कवि जुट गए तो कलह निश्चित था। इसीलिये मन्त्रीने द्वारपालसे हिदायत कर दी थी कि एकके रहते दूसरा सभामें न आने पावे। एक दिन द्वारपालकी असावधानीसे यह दुर्घटना हो ही गई। हरिहर कवि अपना काव्य सुना रहे थे कि मदन पहुँचे। आते ही डाँटा, ऐ हरिहर, घमंड छोड़ो, बढ़कर बातें मत करो। कविराजरूपी मत्त गजराजोंका अंकुश मैं मदन आ गया हूँ!—

हरिहर परिहर गर्वं कविराजगजांकुशो मदनः।

हरिहरने तड़ाकसे जवाब दिया—मदन, मुँह बन्द करो। हरिहरका चरित मदनकी पहुँचके बाहर है—

मदन विमुद्रय वदनं हरिहरचरितं स्मरातीतं।

मन्त्रीने देखा बात बढ़ रही है। बीचमें टोक करके बोले—भई, झगड़ा बन्द करो। इस नारिकेलको लक्ष्य करके सौ सौ श्लोक बनाओ। जो आगे बना देगा उसकी जीत होगी। मदन और हरिहर दोनों ही काव्य बनानेमें उलझ गए। मदनने जब तक सौ पूरे किये तब तक हरिहर साठहीमें रहे। मन्त्रीने कहा, 'हरिहर पण्डित, तुम हारे।' हरिहरने तपाकसे कहा—'हारे कैसे!' और खटसे एक कविता पढ़कर सुनाई—अरे गँवार जुलाहे, क्यों गँवार औरतोंके पहननेके लिये सैकड़ों घटिया किस्मके कपड़े बुनकर अपनेको परेशान कर रहा है? भले आदमी कोई एक ही ऐसी साड़ी क्यों नहीं बनाता जिसे क्षण भरके लिये भी राजमहिषियाँ अपने वक्षःस्थलसे हटाना गवारा न करें—

रे रे ग्रामकुविंद कन्दलतया वस्त्राण्यमूनि त्वया
गोणीविभ्रमभाजनानि बहुशः स्वात्मा किमायास्यते।
अप्येकं रुचिरं चिरादभिनवं वासस्तदासूत्र्यतां
यन्नोज्झन्ति कुचस्थलात् क्षणमपि क्षोणीभृतां वल्लभाः॥

मन्त्रीने प्रसन्न होकर दोनों कवियोंका पर्याप्त सम्मान किया।

राजसभामें शास्त्र-चर्चा भी होती थी। नाना शास्त्रोंके जानकार पंडित तर्क-युद्धमें उतरते थे। जीतनेवालेका सम्मान यहाँ तक होता था कि कभी राजा पालकीमें अपना कन्धा लगा देते थे। प्राचीन ग्रन्थोंमें ब्रह्मरथयान और पट्टबन्ध नामक सम्मानोंके उल्लेख हैं। जो पण्डित सभामें विजयी होता था उसके रथको जब राजा स्वयं खींचते थे तो उसे 'ब्रह्मरथयान' कहते थे और जब राजा स्वयं सुवर्णपट्ट पण्डितके मस्तकपर बाँध देते थे तो उसे 'पट्टबन्ध' कहा जाता था। पाटलिपुत्रमें उपवर्ष, वर्ष, पाणिनि, पिंगल, व्याडि, वररुचि और पतंजलिका ऐसा ही सम्मान हुआ था और उज्जयिनीमें कालिदास, मेंठ, अमर, सूर, भारवि, हरिश्चन्द्र और चन्द्रगुप्तका ऐसा सम्मान हुआ था।

राजसभाओंमें विजयी होना जितने गौरवकी बात थी पराजित होना उतने ही अगौरव और निन्दाकी। अनुश्रुतियोंमें पराजित पण्डितोंके आत्मघात तक कर लेनेकी बातें सुनी जाती हैं। जयन्तचन्द्र राजाके राजपण्डित हीर कवि राजसभामें

हारकर मरे थे ऐसा प्रसिद्ध है। इसी पण्डितके पुत्र प्रसिद्ध श्रीहर्ष कवि हुए जिन्होंने पिताके अपमानका बदला चुकाया था। बहुत थोड़ी उमरमें ही वे विद्या पढ़कर राजसभामें उपस्थित हुए थे। जब राजाकी स्तुति उन्होंने उत्तम काव्योंसे की तो उनके पिताको पराजित करने वाले पण्डितने उन्हें 'कोमल बुद्धिका कवि' कहकर तिरस्कार किया। श्रीहर्षकी भवें तन गईं, कड़ककर उन्होंने जवाब दिया—चाहे साहित्य-जैसी सुकुमार वस्तु हो या न्याय-शास्त्रकी गाँठवाला तर्क शास्त्र, दोनों ही क्षेत्रोंमें वाणी मेरे साथ समान रूपसे विहार करती है। यदि पति हृदयंगम हो तो चाहे मुलायम गद्दा हो चाहे कुशों और काँटोंसे आकीर्ण वनभूमि, स्त्रीकी समान प्रीति ही प्राप्त होती है—

साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रन्थिले
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती।
शय्या वास्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भाङ्कुरैरावृता
भूमिर्वा हृदयंगमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम्॥

और उक्त पंडितको किसी भी शास्त्रके तर्क-युद्धमें उतरनेके लिये ललकारा। इस पण्डितको पराजित करके कविने अशेष कीर्ति प्राप्त की।

७७—विद्वत्सभामें परिहास

पण्डितोंकी सभामें किसी सीधे सादे व्यक्तिको बैठाकर उसे मूर्ख बनाकर रस लेनेकी जो मनोवृत्ति सर्वत्र पाई जाती है उसका भी परिचय प्राचीन ग्रन्थोंसे हो जाता है। प्रसिद्ध बौद्ध साधक भुसुकपादको इसी प्रकार मूर्ख बनानेका प्रयत्न किया गया था। वह मनोरंजक कहानी इस प्रकार है :

नालन्दाके विश्वविद्यालयमें एक गावदी जैसा आदमी आया और नालन्दाके एक प्रान्तमें उसने एक झोंपड़ी बनाई और वहीं वास करने लगा। वह त्रिपिटककी व्याख्या सुनता और साधना करता। वह हमेशा शान्त भावसे रहता था, इसलिये लोग उसे शान्तिदेव कहने लगे। नालन्दाके संघमें एक और नाम भुसुकुसे वह विख्यात हुआ। इसका कारण यह था, कि "भुञ्जानोऽपि प्रभास्वरः सुप्तोपि कुटीम् गतोऽपि तदेवेति भुसुकुसमाधिसमापन्नत्वात् भुसुकु नाम ख्यातिं संघेऽपि" अर्थात् भोजनके समय उसकी मूर्ति उज्ज्वल रहती, सोनेके समय उज्ज्वल रहती और कुटीमें

बैठे रहने पर भी उज्ज्वल रहती ।

इस प्रकारसे बहुत दिन बीत गए । शान्तिदेव किसीके साथ बहुत बात नहीं करते, अपने मनसे अपना काम करते जाते लेकिन लड़कोंने उनके साथ दुष्टता करना शुरू कर दिया । बहुत लोगोंके मनमें हुआ कि वे कुछ जानते नहीं, अतएव किसी दिन उन्हें अप्रतिभ करनेकी बात उन लोगोंने सोची । नालन्दामें नियम था कि ज्येष्ठ मासकी शुक्लाष्टमीको पाठ और व्याख्या होती थी । नालन्दाके बड़े विहारके उत्तर पूर्वके कोनेमें एक बहुत बड़ी धर्मशाला थी । पाठ और व्याख्याके लिये उसी धर्मशालाको सजाया जाता था । सभी पण्डित वहीं जुटते और अनेकों श्रोता सुननेके लिये आते । जब सभा जुड़ गई, पण्डित लोग आ गए और सब कुछ तैयार हो गया तब लड़कोंने जिद्द पकड़ी कि शांतिदेव आज तुम्हें ही पाठ और व्याख्या करनी होगी । शान्तिदेव जितना ही इन्कार करते उतना ही लड़के और ज़िद्द पकड़ते और अन्तमें उन्हें पकड़कर उन लोगोंने वेदीपर बैठा ही दिया । उन लोगोंने सोचा कि ये एक भी बात नहीं बोल सकेंगे तब हम लोग हँसेंगे और ताली बजाएँगे । शान्तिदेव गम्भीर भावसे बैठकर बोले, "किम् आर्ष पठामि अर्थार्ष वा" । सुनकर पण्डित लोग स्तब्ध रह गए । वे लोग आर्ष सुन चुके थे अर्थार्ष नहीं । उन लोगोंने कहा, कि इन दोनोंमें भेद क्या है ? शान्तिदेव बोले,—परमार्थ ज्ञानीको ऋषि कहते हैं । वे ही बुद्ध और जिन हैं । वे लोग जो कुछ कहते हैं वही आर्षवचन है । प्रश्न हो सकता है कि सुभूति आदि आचार्योंने अपने शिष्योंको उपदेश देनेके लिए जो ग्रन्थ लिखे हैं उन्हें आर्ष कैसे कहा जा सकता है ? इसके उत्तरमें युवराज आर्य मैत्रेयका वह वचन उद्धृत किया जा सकता है जिसमें कहा गया है कि आर्ष वचन वस्तुतः उसे ही कहा जायगा जो सुन्दर अर्थसे युक्त हो, धर्म-भावसे अनुप्राणित हो, त्रिधातु-संक्लेशका उपशमन करनेवाला हो, तृष्णाका उच्छेद करनेवाला हो और प्राणीमात्रकी कल्याण बुद्धिसे प्रेरित हो । ऐसे ही वचनको आर्ष कहा जायगा और इसके विपरीत जो है वही अनार्ष है । आर्ष और अनार्षकी यही व्याख्या पारमार्थिक है, अन्य व्याख्याएँ ठीक नहीं हैं । आर्य मैत्रेयका वचन है :

यदर्थवद् धर्मपदोपसंहितं त्रिधातुसंक्लेश-निवर्हणं वचः ।
भवे भवेच्छान्तमनुशंसदर्शकं तद्वत्क्रमार्षं विपरीतमन्यथा ॥

ऐसे ही आर्ष ग्रन्थोंसे अर्थ लेकर अन्य पण्डितोंने जो ग्रन्थ लिखे हैं वे

अर्थार्ष कहलाते हैं। अर्थार्ष ग्रन्थोंके मूल आर्ष ग्रन्थ हैं। अतएव आर्ष ग्रन्थसे पण्डित लोगोंने जो कुछ खींचकर संग्रह किया है वही अर्थार्ष है और सुभूति आदि आचार्योंके जो उपदेश हैं वे आर्ष हैं क्योंकि उसके अधिष्ठाता भगवान् हैं। पण्डित लोगोंने कहा,—हम लोगोंने आर्ष बहुत सुना है, तुमसे कुछ अर्थार्ष सुनेंगे।

इसके पूर्व ही शान्तिदेव बोधिचर्यावतार, शिक्षा-समुच्चय और सूत्र-समच्चय नामके तीन अर्थार्ष ग्रन्थ लिख चुके थे। कुछ देर तक ध्यान करनेके बाद वे बोधिचर्यावतारका पाठ करने लगे। शुरूसे ही पाठ आरम्भ हुआ। बोधिचर्याकी भाषा बड़ी ललित है, मानों वीणाके स्वरमें बँधी हो, भाव अत्यन्त गम्भीर, संक्षिप्त और मधुर है। पण्डित लोग स्तब्ध होकर सुनने लगे। लड़कोंने सोचा था कि इस आदमीको हँसीमें उड़ा देंगे, लेकिन वे भक्तिसे आप्लुत हो उठे। क्रमसे जब पाठ जमने लगा, महायानके गूढ़तत्त्वोंकी व्याख्या होने लगी और जब शान्तिदेव मधुर स्वरसे—

यदा न भावो नाभावो मतेः सन्तिष्ठते पुरः।
तदान्यगत्यभावेन निरालम्बः प्रशाम्यति ॥

इस श्लोककी व्याख्या कर रहे थे, हठात् स्वर्गका द्वार खुल गया और श्वेत वर्णके विमानपर चढ़कर, शरीरकी कान्तिसे दिगन्तको आलोकित करते हुए मञ्जुश्री उतरने लगे। व्याख्या खत्म होनेपर वे शान्तिदेवको गाढ़ आलिंगनमें बाँधकर विमानपर चढ़ाकर स्वर्ग ले गए। दूसरे दिन पण्डित लोग उनकी कुटीमें गए और बोधिचर्यावतार, शिक्षा-समुचय और सूत्र-समुचय ये तीन पोथियाँ उन्हें मिलीं और उन लोगोंने उनका प्रचार कर दिया। इन तीनोंमें दो ही प्राप्य हैं, केवल सूत्र-समुच्चयका पता नहीं लग रहा है। जो दो पोथियाँ मिली हैं ये छापी भी गई हैं (हरप्रसाद शास्त्री : बौ० गा० दो०)।

७८—कथा-आख्यायिका

राजसभामें कथा-आख्यायिकाका कहनेवाला काफी सम्मान पाता था। संस्कृतमें कथाका साहित्य बहुत विशाल है। विद्वानोंका अनुमान है कि संसार भरमें भारतीय कथाएँ फैली हुई हैं। जो कथा सम्मान दिलाती थी वह जैसे-तैसे नहीं सुनाई जाती थी। केवल घटनाओंको प्राचीन भारतीय बहुत महत्त्व नहीं

देते थे। घटनाओंको उपलक्ष्य करके कवि श्लेषोंकी झड़ी बाँध देगा, विरोधाभासोंका ठाठ खड़ा कर देगा, श्लेष-परिपुष्ट उपमाओंका जंगल लगा देगा, तब जाकर कहेगा कि यह अमुक घटना है। वह किसी भी ऐसे अवसरकी उपेक्षा नहीं करेगा जहाँ उसे एक उत्प्रेक्षा या दीपक या रूपक या विरोधाभास या श्लेष करनेका अवसर मिल जाय। प्रसिद्ध कथाकार सुबन्धुने तो ग्रन्थके आरम्भमें प्रतिज्ञा ही कर ली थी कि आदिसे अन्त तक श्लेषका निर्वाह करेंगे। पुराने कथाकारोंमें सबसे श्रेष्ठ बाणभट्ट हैं। इन्होंने कथाकी प्रशंसा करते हुए मानों अपनी ही रचनाके लिये कहा था कि सुस्पष्ट मधुरालापसे और हावभावसे नितान्त मनोहरा तथा अनुराग-वश स्वयमेव शय्यापर उपस्थित अभिनवा वधूके समान सुगम कलाविद्या सम्बन्धी वाक्यविन्यासके कारण सुश्राव्य और रसके अनुकरणके कारण बिना प्रयास शब्द-गुम्फको प्राप्त करनेवाली कथा किसके हृदयमें कौतुकयुक्त प्रेम नहीं उत्पन्न करती? सहजबोध्य दीपक और उपमा अलंकारसे सम्पन्न अपूर्व पदार्थके समावेशसे विरचित और अनवरत श्लेषालंकारसे किञ्चिद् दुर्बोध्य कथा-काव्य, उज्ज्वल प्रदीपके समान उपादेय चम्पक-पुष्पकी कलीसे गुँथे हुए और बीच-बीचमें चमेलीके पुष्पोंसे अलंकृत घन-सन्निविष्ट मोहनमालाकी भाँति किसे आकृष्ट नहीं करता?—

सच पूछा जाय तो बाणभट्टने इन पंक्तियोंमें कथा-काव्यका ठीक-ठीक लक्षण दिया है। कथा कलालाप-विलाससे कोमल होगी, कृत्रिम पद-संघट्टना और अलंकारप्रियताके कारण नहीं बल्कि बिना प्रयासके रसके अनुकूल गुम्फवाली होगी, उज्ज्वल दीपक और उपमाओंसे सुसज्जित रहेगी और निरन्तर श्लेष अलंकारके आते रहनेके कारण ज़रा दुर्बोध्य भी होगी—परन्तु सारी बातें रसकी अनुवर्तिनी होंगी। अर्थात् संस्कृतके आलंकारिक जिस रसको काव्यका आत्मा कहते हैं, जो अंगी है, वही कथा और आख्यायिकाका भी प्राण है। काव्यमें कहानी गौण है, पदसंघट्टना भी गौण है, मुख्य है केवल रस। यह रस अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, शब्दसे वह अप्रकाश्य है। उसे केवल व्यंग्य या ध्वनित किया जा सकता है। इस बातमें काव्य और कथा-आख्यायिकामें इस रसके अनुकूल कहानी, अलङ्कार-योजना और पद-संघट्टना सभी महत्त्वपूर्ण हैं, किसीकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। एक पद्यके बन्धनसे मुक्त होनेके कारण ही गद्य-कविकी जवाबदेही बढ़ जाती है। वह अलंकारोंकी और पद-संघट्टनाकी उपेक्षा नहीं कर सकता। कहानी तो उसका प्रधान वक्तव्य ही है। कहानीके रसको अनुकूल रखकर इन शर्तोंका पालन करना सचमुच

कठिन है और इसीलिए संस्कृतके आलोचकोंने गद्यको कविताकी कसौटी कहा है—'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' ।

अब प्रश्न हो सकता है कि यदि रस सचमुच ही इन कथा-आख्यायिकाओंकी आत्मा है तो अलङ्कारोंकी इतनी योजना क्यों जरूरी समझी गई। आजके युगमें वह बात समझमें नहीं आ सकती। जिन दिनों ये काव्य लिखे गए थे उन दिनों भारतवर्षकी समृद्धि अतुलनीय थी। उन दिनोंके समाजकी अवस्था और सहृदयकी मनोवृत्ति जाने बिना इनका ठीक-ठीक समझना असम्भव है। उन दिनोंके सहृदयोंकी शिक्षा-दीक्षा आजसे बहुत भिन्न थी। उनके मनोविनोदोंमें काव्य-चर्चाका महत्त्वपूर्ण स्थान था।

७७--बृहत्कथा

कथा-साहित्यकी चर्चा करते समय बृहत्कथाको नहीं भूला जा सकता। रामायण, महाभारत और बृहत्कथा ये तीन ग्रन्थ समस्त संस्कृत काव्य, नाटक कथा-आख्यायिका और चम्पूके मूल उत्स हैं। भारतवर्षके तीनों बड़े-बड़े गद्य-काव्यकार दण्डी, सुबन्धु और बाणभट्ट, बृहत्कथाके ऋणी हैं। भारतवर्षका यह दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिए कि यह अमूल्य निधि आज अपने मूल रूपमें प्राप्त नहीं है। सन् ईस्वीकी आठवीं-नवीं शताब्दी तकके भारत-साहित्यमें बृहत्कथा और उसके लेखक गुणाढ्य पण्डितकी चर्चा प्रायः ही आती रहती है। यहाँ तक कि लगभग ८७५ ई० में कम्बोडियाकी एक संस्कृत प्रशस्तिमें गुणाढ्य और उनकी बृहत्कथाकी चर्चा आती है। परन्तु आज वह नहीं मिलती। यह ग्रन्थ संस्कृतमें नहीं बल्कि प्राकृतमें लिखा गया था और प्राकृत भी पैशाची प्राकृत। इसके निर्माणकी कहानी बड़ी ही मनोरंजक है।

गुणाढ्य पण्डित महाराज सातवाहनके सभापण्डित थे। एक बार राजा सात-वाहन अपनी प्रियाओंके साथ जलक्रीड़ा करते समय संस्कृतकी कम जानकारीके कारण लज्जित हुए और यह प्रतिज्ञा कर बैठे कि जब तक संस्कृत धारावाहिक रूपसे लिखने बोलने नहीं लगेंगे तब तक बाहर मुँह नहीं दिखाएँगे। राज-काज बन्द हो गया। गुणाढ्य पण्डित बुलाए गए। उन्होंने एक वर्षमें संस्कृत सिखा देनेकी प्रतिज्ञा की पर

एक अन्य पण्डितने छह महीनेमें ही इस असाध्य साधनका संकल्प किया। गुणाढ्यने इसपर प्रतिज्ञा की कि यदि कोई छह महीनेमें संस्कृत सिखा देगा तो वे संस्कृतमें लिखना-बोलना ही बन्द कर देंगे। छह महीने बाद राजा तो सचमुच ही धारावाहिक रूपसे संस्कृत बोलने लगे, पर गुणाढ्यको मौन होकर नगरसे बाहर होकर चला जाना पड़ा। उनके दो शिष्य उनके साथ हो लिए। वहीं किसी शापग्रस्त पिशाच-योनि-प्राप्त गन्धर्वसे कहानी सुनकर गुणाढ्य पण्डितने इस विशाल ग्रंथको पैशाची भाषामें लिखा। कागजका काम सूखे चमड़ोंसे और स्याहीका काम रक्तसे लिया गया। पिशाचोंकी बस्तीमें और मिल ही क्या सकता था! कथा सम्पूर्ण करके गुणाढ्य अपने शिष्यों सहित राजधानीको लौट आए। स्वयं नगरके उपान्त भागमें ठहरे और ग्रन्थ शिष्योंसे राजाके पास स्वीकारार्थ भिजवा दिया। राजाने अवहेलना-पूर्वक इस मौनोन्मत्त लेखकद्वारा चमड़ेपर रक्तसे लिखे हुए पैशाची ग्रंथका तिरस्कार किया। राजाने कहा कि भला ऐसे ग्रंथके वक्तव्य वस्तुमें विचार योग्य हो ही क्या सकता है :

> पैशाची वाग् मषी रक्तं मौनोन्मत्तश्च लेखकः।
> इति राजाऽब्रवीत् का वा वस्तुसारविचारणा॥
>
> (बृहत्कथामंजरी १। ८७)

शिष्योंसे यह समाचार सुनकर गुणाढ्य बड़े व्यथित हुए। चितामें ग्रन्थको फेंकने जा रहे थे कि शिष्योंने फिर एक बार सुननेका आग्रह किया। आग जला दी गई, पण्डित आसन बाँधकर बैठ गए। एक-एक पन्ना पढ़कर सुनाया जाने लगा और समाप्त होते ही आगमें डाल दिया जाने लगा। कथा इतनी मधुर और इतनी मनोरंजक थी कि पशु-पक्षी मृग-व्याघ्र आदि सभी खाना-पीना छोड़कर तन्मय भावसे सुनने लगे। उनके मांस सूख गए। जब राजाकी रंधनशालामें ऐसे ही पशुओंका मांस पहुँचा तो शुष्क मांसके भक्षणसे राजाके पेटमें दर्द हुआ। वैद्यने नाड़ी देखकर रोगका निदान किया। कसाइयोंसे कैफियत तलब की गई और इस प्रकार अज्ञात पण्डितके कथावाचनकी मनोहारिता राजाके कानों तक पहुँची। राजा आश्चर्यचकित होकर स्वयं उपस्थित हुए लेकिन तब तक ग्रन्थके सात भागोंमें से छः जल चुके थे। राजा पण्डितके पैरोंपर गिरकर सिर्फ एक ही भाग बचा सके। उस भागकी कथा हमारे पास मूल रूपमें तो नहीं पर संस्कृत अनुवादके रूपमें अब भी उपलब्ध है।

बुद्धस्वामीके बृहत्कथाश्लोकसंग्रह, क्षेमेंद्रकी बृहत्कथामंजरी और सोमदेवके

कथासरित्सागरमें बृहत्कथा (या वस्तुतः 'बड्डुकहा', क्योंकि यही उसका मूल नाम था) के उस अवशिष्ट अंशकी कहानियाँ संगृहीत हैं। इनमें पहला ग्रन्थ नेपालके और बाकी काश्मीरके पण्डितोंकी रचना है। पण्डितोंमें गुणाढ्यके विषयमें कई प्रश्नों-को लेकर काफी मतभेद रहा है। पहली बात है कि गुणाढ्य कहाँके रहनेवाले थे। काश्मीरी कथाओंके अनुसार वे प्रतिष्ठानमें उत्पन्न हुए थे और नेपाली कथाके अनु-सार कौशाम्बीमें। फिर कालको लेकर भी मतभेद है। कुछ लोग सातवाहनको और उनके साथ ही गुणाढ्यको सन् ईसवीके पूर्वकी पहली शताब्दीमें रखते हैं और कुछ बहुत बादमें। दुर्भाग्यवश यह कालसम्बन्धी झगड़ा भारतवर्षके सभी प्राचीन आचार्योंके साथ अविच्छेद्य रूपसे सम्बद्ध है। हमारे साहित्यालोचकोंका अधिकांश श्रम इन कालनिर्णयसम्बन्धी कसरतोंमें ही चला जाता है। ग्रन्थके मूल वक्तव्य तक पहुँचनेके पहले सर्वत्र एक तर्कका दुस्तर फेनिल समुद्र पार करना पड़ता है। एक तीसरा प्रश्न भी बृहत्कथाके सम्बन्धमें उठता है। वह यह कि पैशाची किस प्रदेशकी भाषा है। इधर ग्रियर्सन जैसे भाषा-विशेषज्ञने अपना यह फैसला सुना दिया है कि पैशाची भारतवर्षके उत्तर-पश्चिम सीमान्तकी बर्बर जातियोंकी भाषा थी। वे कच्चा मांस खाते थे इसीलिये इन्हें पिशास या पिशाच कहा जाता था। गुणाढ्यकी पुस्तकोंके सभी संस्कृत संस्करण काश्मीरमें (सिर्फ एक नेपालमें) पाए जाते हैं इस-परसे ग्रियर्सनका तर्क प्रबल ही होता है।

७८—प्राकृत काव्यके पृष्ठपोषक सातवाहन

हमने पहले ही देखा है कि सातवाहन राजाके विषयमें यह प्रसिद्धि चली आती है कि उन्होंने अपने अन्तःपुरमें यह नियम ही बना दिया था कि केवल प्राकृत भाषाका ही व्यवहार हो। उनके सभापंडित गुणाढ्यका प्राकृत ग्रंथ कितना महत्त्वपूर्ण है यह भी हमने देख लिया है। स्वयं सातवाहन बहुत अच्छे कवियोंमें गिने गए हैं। सातवाहनके संबंधमें भारतीय साहित्यमें बहुत अधिक लोककथाएँ प्रचलित हैं। सातवाहनवंशी राजा दक्षिणमें बहुत दिनों तक राज्य करते रहे। संस्कृतमें सातवाहन शब्द कई प्रकारसे लिखा मिलता है, सातवाहन, सालवाहन, शालिवाहन आदि। शिलालेखोंमें 'साड' भी मिलता है। संक्षेपमें सात या साल कहनेकी भी प्रथा थी। इसीलिये यह इशारा किया जाता है कि 'हाल' नाम

वस्तुतः साल या साडका रूपान्तर है । यह अनुमान बहुत ग़लत नहीं लगता । हेमचंद्राचार्यकी देशीनाममालासे भी इसका समर्थन होता है । जो भी हो, सालवाहनोंमें कोई 'हाल' नामके बड़े ही प्रबल पराक्रमी राजा हुए हैं । 'मोदकैः मां ताडय' वाली कहानीमें उनके संस्कृतके अज्ञानका जो उपहास किया गया है उसका कारण उनका प्राकृत-प्रेम ही है । इन्होंने कोई प्राकृत गाथा-कोशका संपादन किया था जो 'हालकी सत्तसई' के नामसे बादमें प्रसिद्ध हुआ । यह प्राकृत सतसई शृंगार रसकी बहुत ही सुंदर रचना है । इसमें ग्राम-जीवनका बहुत ही सरस चित्रण है । कभी कभी तो इसकी गाथाओंमें शृंगार रस बिल्कुल नहीं है, पर टीकाकारोंने रगड़के उसमेंसे शृङ्गार रस निकाल लिया है । हालकी सतसई प्राकृत काव्यके उत्कर्षका निदर्शन है । यह ग्रन्थ—जैसा कि 'गाथा-कोश' नामसे प्रकट है हालद्वारा संगृहीत कोई संग्रह-ग्रंथ रहा होगा परन्तु उनकी अपनी कविताएँ भी इसमें अवश्य हैं । प्रबंधकोशमें इस संग्रहकी एक मनोरंजक कहानी दी हुई है । इस कहानीमें भी राजाका जलविहार और 'मोदकैः मां ताडय' की कहानी पहले जैसी ही है । बादमें राजा अपमानित होकर सरस्वतीकी आराधना करता है और उनकी कृपासे सारे नगरको आधे पहरके लिये कवि बननेका गौरव प्राप्त होता है । फलतः राजाने उस आधे पहरकी लिखी हुई नगरवासियोंकी दस करोड़ गाथाएं संग्रह कीं । यही संगृहीत गाथाएं 'सातवाहन-शास्त्र' नामसे प्रसिद्ध हुईं (प्रबंधकोश पृ० ७२) । सप्तशती उसका बहुत संक्षिप्त रूप है । प्राकृतके काव्यों कथाओं और आख्यायिकाओंके ये सबसे बड़े पृष्ठपोषक हुए । ऐसे राजाके लिये प्राकृत कवि कौतूहलने अपनी प्रियासे ठीक ही कहा था कि हे प्रिये, यह वह राजा था जिसके बिना सुकवियोंकी काव्य-रचना सुचिर परिचिंतित होने पर भी दरिद्रोंके मनोरथकी तरह जहाँसे उठती थी वहीं विलीन हो जाती थी—

> हियएच्चेय विसयंति सुइर परिचिंतिया वि सुकईणं,
> जेण विणा दुहियाणं व मणोरहा कव्वविनिवेसा ।
> (लीला० पृ० १८)

७९—कथाकाव्यका मनोहर वायुमण्डल

कथाकाव्यका वायुमण्डल अत्यन्त मनोहर है । वह अद्भुत मोहक लोक है,

इस दुनियामें वह दुर्लभ है। वहाँ प्रभात होते ही पद्म-मधुसे रंगे हुए वृद्ध कलहंस-की भांति चन्द्रमा आकाश-गंगाके पुलिनसे उदाससे होकर पश्चिम जलधिके तटपर उतर आते थे, दिङ्मण्डल वृद्ध रंकु मृगकी रोमराजिके समान पाण्डुर हो उठता था, हाथीके रक्तसे रञ्जित सिंहके सटाभारके समान या लोहितवर्ण लाक्षारसके सूत्रके समान सूर्यकी किरणें, आकाशरूपी वनभूमिसे नक्षत्रोंके फूलोंको इस प्रकार झाड़ देती थीं मानों वे पद्मराग मणिकी शालाओंकी बनी हुई झाड़ू हों, उत्तर ओर अवस्थित सप्तर्षि मण्डल सन्ध्योपासनके लिये मानसरोवरके तटपर उतर जाता था, पश्चिम समुद्रके तीरपर सीपियोंके उन्मुक्त मुखसे बिखरे हुए मुक्तापटल चमकने लगते थे, मोर जाग पड़ते थे, सिंह जमुहाई लेने लगते थे, करेणुबालाएँ मदस्रावी प्रियतम गजोंको जगाने लगती थीं, वृक्षगण पल्लवांजलिसे भगवान् सूर्यको शिशिर-सिक्त कुसुमांजलि समर्पण करने लगते थे, वनदेवताओंकी अट्टालिकाओंके समान उन्नत वृक्षोंकी चोटी पर गर्दभ-लोम सा धूसर अग्निहोत्रका धूम इस प्रकार सट जाता था मानों कर्बुर वर्णके कपोतोंकी पंक्ति हो; शिशिरबिन्दुको वहन करके, पद्मवनको प्रकम्पित करके, परिश्रान्त शबर-रमणियोंके घर्मबिन्दुको विलुप्त करके, वन्य महिषके फेनबिन्दुसे सिंचके, कम्पित पल्लव और लतासमूहको नृत्यकी शिक्षा दे करके, प्रस्फुटित पद्मोंका मधु बरसाके, पुष्प-सौरभसे भ्रमरोंको सन्तुष्ट करके, मन्द-मन्द-संचारी प्रभात वायु बहने लगती थी; कमलवनमें मत्त गजके गंडस्थलीय मदके लोभसे स्तुतिपाठक भ्रमररूपी वैतालिक गुञ्जार करने लगते थे, ऊषरमें शयन करनेके कारण वन्य मृगों-के निचले रोम धूसर वर्ण हो उठते थे और जब प्राभातिक वायु उनका शरीर स्पर्श करती थी तो उनकी उनींदी आँखोंकी तारार्एँ ढुलमुला जाती थीं और बरौनियाँ इस प्रकार सटी होती थीं मानों उत्तप्त जतुरससे सटा दी गई हों, वनचर पशु इतस्ततः विचरण करने लगते थे, सरोवरमें कलहंसोंका श्रुति-मधुर कोलाहल सुनाई देने लगता था, मयूरगण नाच उठते थे और सारी मरुस्थली एक अपूर्व महिमासे उद्भा-सित हो उठती थी (कादम्बरीके प्रभात-वर्णनसे)। उस जादूभरे रसलोकमें प्रियाके पदाघात-से अशोक पुष्पित हो जाता है; क्रीड़ा-पर्वत परकी चूड़ियोंकी झनकारसे मयूर नाच उठता है, प्रथम आषाढ़के मेघगर्जनसे हंस उत्कंठित हो जाता है, कज्जलभरे नयनों-के कटाक्षपातसे नील कमलकी पाँत बिछ जाती है, कपोल-देशकी पत्राली आँकते समय प्रियतमके हाथ काँप जाते हैं, आम्र-मंजरीके स्वादसे कषायित-कण्ठ कोकिल अकारण ही हृदय कुरेद देते हैं, क्रौञ्च-निनादसे वनस्थलीकी शस्यराशि अचानक

कम्पमान हो उठती है और मलयानिलके झोंकेसे विरहविधुर प्रेमिक सोच्छ्वास जाग पड़ते हैं। भारतीय कथा-साहित्य वह मोहक अलबम है जिसमें एकसे एक कमनीय चित्र भरे पड़े हैं; वह ऐसा उद्यान है, जहाँ रंगबिरंगे फूलोंसे लदी क्यारियाँ हर दृष्टिमें पाठकको आकृष्ट करती हैं।

८०—पद्यबद्ध कथा

नवीं शताब्दीके प्रसिद्ध आलंकारिक रुद्रटने लिखा है कि संस्कृतमें तो कथा गद्यमें लिखी जानी चाहिए, पर प्राकृत आदि अन्य भाषाओंकी कथा गाथाबद्ध हो सकती है। वस्तुतः उन दिनों प्राकृतमें गाथाबद्ध कथाएँ बनी थीं। कथाका वह मनोहर वायुमण्डल, जिसकी चर्चा ऊपर हुई है, इन गाथाबद्ध काव्योंमें भी मिलता है। आठवीं शताब्दीके कौतूहल नामक कविकी लिखी एक कथा लीलावती मिली है जिसमें रुद्रटके बताए सब लक्षण मिलते हैं। भाषाका चटुल-चपल प्रवाह यहाँ भी है, वर्णनकी रंगीनी इसमें भी है, सरस करनेकी प्रवृत्ति इसमें भी हैं, स्थान-स्थानपर गद्य भी हैं। पढ़ते पढ़ते ऐसा लगता है कि कादंबरी आदि कथाओंका जो वातावरण है वह बहुत-कुछ ऐसा ही है। कविको कहना है कि प्रतिष्ठानपुर नगर था जहाँ बहुत शोभा थी। वह शुरू करेगा—जहाँ सुन्दरियोंके चरण-नुपूरके शब्दोंको अनुसरण करनेवाले राजहंस अपनी चोंचोंसे किसलय त्याग करके प्रतिराव मुखर हो उठते हैं, जहाँकी यज्ञाग्निसे निकले धुएँसे आकाश ऐसा काला हो उठता है कि उन्हें देखकर क्रीड़ामयूर चन्द्रकान्त मणियोंके शिलातलपर नाच उठते हैं, जहाँके घरोंमें लगी मणियोंसे ज्योति निकल निकल कर अंधकारको इस प्रकार दूर कर देती हैं कि अभिसारिकाओंकी प्रेमयात्रा कठिन हो जाती है, जहाँके मंदिरों और स्तूपिकाओंकी पताकाएँ सूर्यकिरणोंको आच्छादित कर देती हैं जिसमें संगीत-वनिताएँ बिना छातेके हो आरामसे चला करती हैं, जहाँ कलकंठा कोकिलाएँ अपनी कूकसे मानिनियोंके हृदय कुरेद कर प्रियजनोंका दौत्य संपादन करती हैं...इत्यादि इत्यादि। और फिर बहुत बादमें जाकर कवि कहेगा कि यह प्रतिष्ठानपुर है। इन पद्यबद्ध गाथाओंकी परंपरा बहुत दिनों तक इस देशमें चलती रही है।

८९—इन्द्रजाल

इन्द्रजालका अर्थ है इन्द्रियोंका जाल या आवरण अर्थात् वह विद्या जिससे इन्द्रिय जालकी तरह आच्छादित हो जायँ। भारतवर्षकी इन्द्रजालकी अद्भुत आश्चर्यजनक लीला सारे संसारमें प्रसिद्ध थी। राजसभामें ऐन्द्रजालिकोंके लिये विशिष्ट स्थान दिया जाता था। तन्त्र ग्रन्थोंमें इन्द्रजालकी अनेक विधियाँ बताई गई हैं। दत्तात्रेय तन्त्रके ग्यारहवें पटलमें दर्जनों ऐसी विधियाँ दी हुई हैं जिससे आदमी कबूतर मोर आदि पक्षी बनकर उड़ने लग सकता है; मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन आदिमें विना अभ्यासके सिद्धि प्राप्त कर सकता है, पति पत्नीको और पत्नी पतिको वश कर सकती है, प्रयोग करनेवाला ऐसा अंजन लगा सकता है जिससे वह स्वयं अदृश्य होकर औरोंको देख सके और इसी प्रकारके सैकड़ों कर्म कर सकता है। इन्द्रजाल तन्त्र-संग्रह नामक ग्रंथमें हिंस्र जन्तुओंको निवारण करने-का, स्तम्भित करनेका और निश्चेष्ट कर देनेका उपाय बताया गया है, आग बाँधना, आग लगी होनेका भ्रम पैदा करना—दूसरोंकी बुद्धि बाँध देना आदि अद्भुत फलोंकी व्यवस्था है। इन कार्योंके लिये मन्त्रकी सिद्धिके साथ ही द्रव्य-सिद्धिका भी विधान है। उदाहरणके लिये चलती हुई नावको रोक देनेके लिये यह उपाय बताया गया है कि भरणी नक्षत्रमें क्षीर-काष्ठकी पाँच अंगुलकी कील नौकामें ठोक देनेसे निश्चित रूपसे नौका स्तम्भन हो जायगा, परन्तु इसके लिये जप आदिकी भी व्यवस्था दी गई है। इस प्रकारके सैकड़ों नुस्खे बताए गए हैं और इस प्रकारके नुस्खे बतानेवाले तन्त्र-ग्रंथोंकी संख्या भी बहुत अधिक है। इन पुस्तकोंके पाठमात्रसे कोई सिद्धि प्राप्त नहीं होती, क्योंकि तन्त्रोंमें बार बार याद दिला दिया गया है कि इन क्रियाओंके लिये गुरुकी उपस्थिति आवश्यक है।

रत्नावलीसे जाना जाता है कि इन्द्र और संवर इस विद्याके आचार्य माने जाते थे। ये इन्द्रजालिक पृथ्वीपर चाँद, आकाशमें पर्वत, जलमें अग्नि, मध्याह्न कालमें सन्ध्या दिखा सकते थे, गुरुके मन्त्रकी दुहाई देकर घोषणा करते थे कि जिसको जो देखनेकी इच्छा हो उसे वही दिखा सकेंगे। राजसभामें राजाकी आज्ञा पाकर वे शिव, विष्णु, ब्रह्मा आदि देवताओंको प्रत्यक्ष दिखा सकते थे। रत्नावलीमें राजाकी आज्ञा पाकर एक ऐन्द्रजालिकने कमल-पुष्पमें उपविष्ट ब्रह्माको, मस्तकमें चन्द्रकलाधारी शिवको, शंख-चक्र-गदा-पद्म-धारी दैत्यनिषूदन विष्णुको, ऐरावतपर

कुछ तो घोड़ोंपर भी हैं। कुत्ते भी हैं जो आगे दौड़ रहे हैं। मृगोंकी भयत्रस्त व्याकुलता बहुत सुन्दर अंकित है। कादम्बरीमें वन्य लोगोंकी मृगयाका बड़ा ही मनोहर वर्णन है, पर वह उनका विनोद नहीं था, पेट भरनेका साधन था। उसमें भी कुत्ते प्रमुख रूपसे थे। शकुन्तला नाटकमें भी दुष्यन्तके शिकारका वर्णन मिलता है। वह आखेटक कई दिनों तक चलता रहा और ऊबड़-खाबड़ और भयंकर स्थानोंमें घूमते-घूमते बिचारे माढव्यको बड़ा कष्ट हो रहा था। राजा धनुष लेकर शिकार खेलता था और निरन्तर धनुषकी ज्याके स्फालनसे उसके शरीरका पूर्वभाग कर्कश हो आया था। ऐसा जान पड़ता है कि कालिदासके युगमें मृगयाको बहुत अच्छा विनोद नहीं माना जाता था। वनके निरीह प्राणियोंको अकारण कष्ट पहुँचाना उचित भी नहीं है। इसीलिए सेनापतिके मुखसे कविने कहलवाया है कि लोग झूठ-मूठ ही इस विनोदको व्यसन बताया करते हैं। इससे अच्छा विनोद और क्या हो सकता है? राजाके लिए यह अत्यन्त आवश्यक विनोद है, क्योंकि इससे शरीरकी चर्बी कम हो जाती है; तोंद घट जाती है, शरीर उठने बैठनेमें तत्पर हो जाता है। पशुओंके मुखपर भय और क्रोधके भाव दिखाई देते हैं और भागते हुए लक्ष्यपर निशाना मारनेका अभ्यास होता है—इससे सुन्दर विनोद और क्या हो सकता है?—

> मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः
> सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः।
> उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिद्ध्यन्ति लक्ष्ये चले,
> मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग् विनोदः कुतः?

राजा 'बाणहस्ता यवनियों' द्वारा परिवृत था और ये यवनियाँ मृगयावेशी होनेपर भी पुष्पधारिणी थीं। वे राजाके अस्त्र-शस्त्रकी रखवाली करती थीं। मेगस्थनीज़ने चन्द्रगुप्तको इस प्रकारकी दासियोंसे घिरा देखा था। एक अज्ञातनामा ग्रीक लेखकने बताया है कि ये सुन्दरियाँ जहाजोंमें भरकर भृगुकच्छ नामक भारतीय बन्दरगाहपर उतारी जाती थीं और वहाँसे इनका व्यवसाय होता था। भारतीय नागरकोंकी विलास-लीलाके अन्तरालमें करुण कहानियोंकी परम्परा कम नहीं है!

सो यह मृगया विनोद सदोष माना जाकर भी मनोरंजनका साधन माना अवश्य जाता था। भारतीय कथा-साहित्यमें इस मृगया-विस्तारका वर्णन अत्यधिक मात्रामें हुआ था। लेकिन कितना भी मनोरंजक विनोद यह क्यों न हो, और

कितना भी लाभदायक क्यों न हो, प्रेम-व्यापारके सामने यह फीका पड़ ही जाता था। कहानियोंके मृगयाविहारी राजपुत्र प्रायः किसी न किसी रोमांसके चक्करमें पड़ जाते थे, मृगोंके पीछे दौड़नेवाले घोड़ेकी रास तब ढीली होती थी जब प्रियाके साहचर्यके कारण उनकी आँखोंमें मुग्ध भावसे विलोकनका उपदेश झलक पड़ता था। किन्नर-मिथुन पकड़नेका कौतूहल तब शांत होता था जब स्वर्गीय अप्सराकी वीणाकी झनकार सुनाई दे जाती थी और अधिज्य धनुष्को तभी विश्राम मिलता था जब उससे भी अधिक वक्र भृकुटि सामने आ जाती थी। यही एक मात्र शरण थी। इसीकी छाया मिलनेपर भैंसोंको अपने विकराल सींगोंसे बार-बार ताड़ित करके निपान-सलिलोंको गँदला बनानेकी छुट्टी मिलती थी, इसीका सहारा पानेपर हरिणोंके झुण्ड छायादार वृक्षोंके नीचे जुगाली करनेका अवसर पाया करते थे; और इसीकी शरण गहनेपर दुर्वर्ट वराहोंको जलाशयोंमें उगे हुए मोथे कुतरनेकी स्वाधीनता मिल पाती थी। क्योंकि इसके बिना ज्याबंधके शिथिल होनेकी संभावना ही नहीं थी।

> गाहन्तां महिषा निपातसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितम्
> छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु।
> विस्रब्धं क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिं पल्वले
> विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः॥

लेकिन यह तो काव्य-नाटकोंमें होना ही चाहिए। ऐसे रोमांसके उद्देश्यसे ही तो ये साहित्य लिखे जाते हैं। द्यूत हो तो भी वहीं जाके गिरेगा, प्राणि-समाह्वय हो तो वहीं पहुँचेगा, मल्ल-विद्या हो तो वहीं जाकर रुकेगी और मृगया-विनोद हो तो भी वहीं अटकेगा। इसका यह मतलब तो हो ही नहीं सकता कि वास्तविक जीवनमें भी शिकारियोंको ऐसे रोमांस नित्य मिल जाया करते थे।

८३—द्यूत और समाह्वय

प्राचीन साहित्यके मनोविनोदमें द्यूतका स्थान था। यह दो प्रकारका होता था—अक्षक्रीड़ा और प्राणिद्यूत। विश्वभारती पत्रिका खंड ३ अंक २ में पं० श्री हरिचरण वन्द्योपाध्यायने इस विषयमें एक अच्छा लेख दिया है। उस लेखका कुछ आवश्यक अंश यहाँ उद्धृत किया जा रहा है।

“अक्षक्रीड़ा और प्राणिद्यूत दोनों ही व्यसन हैं। मनुने (७।४७-४८) अठारह

प्रकारके व्यसनोंका उल्लेख किया है ; जिनमें दस कामज हैं और आठ क्रोधज हैं। काम शब्दका अर्थ इच्छा है और कामज व्यसनका मूल लोभ है अर्थात् पण और प्रतिपण रूपसे लभ्य धनके उपभोगकी इच्छा ही इसका कारण है। इसीलिये इसकी गणना कामज व्यसनोंमें है। यह व्यसन दुरन्त है अर्थात् इसके अन्तमें दुःख होता है और जीतनेवाले और हारनेवालेके बीच बैर उत्पन्न करता है। अक्षक्रीड़ाका इतिहास वेदोंमें भी पाया जाता है। ऋग्वेदके दसवें मंडलके ३४ वें सूक्तमें १० ऋचाएँ हैं जिनका विषय अक्षक्रीड़ा है। वैदिक-युगमें बहेरेका फल अक्ष-रूपमें व्यवहृत होता था, इसका शारि-फलक (Dice Board) 'इरिण' कहलाता था। सायण-भाष्यमें इसके अर्थके लिये 'आस्फार' शब्दका प्रयोग किया गया है। उक्त सूक्तकी आठवीं ऋचामें 'त्रिपंचाशः क्रीडति व्रातः' कहा गया है, जिसका अर्थ है कि अक्षके ५३ व्रात (संघ) शारि-फलकपर क्रीड़ा करते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि द्यूतकी ५३ सभाएँ थीं। जान पड़ता है कि वैदिक-युगमें अक्षक्रीड़ाका विशेष रूपसे प्रचार था। किन्तु सारे ऋग्वेदमें ऐसी एक भी ऋचा नहीं है जिसमें द्यूतकी प्रशंसा की गई हो बल्कि ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि द्यूतकार समस्त धन हारकर ऋण-मुक्तिके लिये चोरी किया करते थे। इसीलिये अक्ष और अक्ष-कितव (जुआड़ी) की निंदाकी ऋचाएं पाई जाती हैं।

"महाभारत, पौराणिक कथाओंका महासमुद्र है। इसके सभा-पर्वमें जो द्यूत पर्व और अनुद्यूत-पर्व है उसमें पाश-क्रीड़ाका दुष्परिणाम विस्तारपूर्वक दिखाया गया है। शकुनिके कपट द्यूतसे पराजित होकर राज्य-भ्रष्ट पांडवगण बनवासी हुए थे। कुरुक्षेत्रके भीषण नर-संहारके रूपमें यही व्यसन कारण बना था। निषध-राज नल, अक्ष-क्रीड़ामें ही पराजित होकर पत्नीसमेत बन गए थे और नाना दुःख क्लेश सहनेके बाद अयोध्याके राजा ऋतुपर्णके साथी बने थे।"

याज्ञवल्क्य-संहिताके व्यवहाराध्यायमें द्यूत-समाह्वय नामका एक प्रकरण है। इसका विषय है द्यूत और समाह्वय। निर्जीव पाशादिसे खेलनेवाली क्रीड़ाको द्यूत कहते हैं। इसमें जिस द्यूतका वर्णन है उससे जाना जाता है कि द्यूतमें जीते हुए पणमें राजाका हिस्सा होता था और सभिक अर्थात् जुआ खेलानेवाला धूर्त कितवोंसे रक्षा करनेके लिये प्राप्य पण दिया करता था। जो लोग कपटपूर्वक या धोखा देनेके लिये मन्त्र या औषधिकी सहायतासे जुआ खेला करते थे उन्हें राजा श्वपद आदि चिह्नोंसे चिह्नित करके राज्यसे निर्वासित कर दिया करते थे। द्यूत

सभामें चोरी न हो इसके लिये राजाकी ओरसे एक अध्यक्ष नियुक्त हुआ करता था। मेष, महिष, कुक्कुट आदि द्वारा प्रवर्तित पण या शर्त बदकर जो क्रीड़ा हुआ करती थी उसे समाह्वय या समाह्वय नामक प्राणिद्यूत कहा करते थे (याज्ञवल्क्य, २, १९९–२००)। दो मल्लों या पहलवानोंकी कुश्तीको भी समाह्वय कहते थे। नल राजाने अपने भाई पुष्करको राज्यका पण या दाव रखकर जो द्यूत-युद्धके किये आह्वान किया था उसे भी समाह्वयके अन्तर्गत माना गया है (मनु ९, २२-२२४)।

आजकल जिसे शतरंज कहते हैं वह भी भारतीय मनोविनोद ही है। इसे प्राचीनकालमें 'चतुरंग' कहते थे। हालहीमें शूलपाणि आचार्यकी लिखी हुई 'चतुरंग-दीपिका' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई है। इसमें चतुरंग-क्रीड़ाका विस्तार-पूर्वक विवेचन है।

मनुने द्यूत और प्राणि-समाह्वय दोनोंहीको राजाके द्वारा निषिद्ध करनेकी व्यवस्था दी है। अशोकने अपने राज्यमें प्राणि-समाह्वयका निषेध कर दिया था। फिर भी प्राणिसमाह्वय प्राचीन भारतीय नागरिकोंके मनोविनोदका साधन बना ही रहा। मेष, तित्तिर, लाव इन प्राणियोंकी लड़ाई पर बाजी लगाई जाती थी। इन लड़ाइयोंको देखनेके लिये नागरिकोंको भीड़ उमड़ पड़ती थी, फिर भी यह विनोद उस उन्मादकी सीमा तक इस देशमें कभी नहीं पहुँचा जिसका परिचय रोम आदि प्राचीन देशोंके इतिहासमें मिलता है।

यह नहीं समझना चाहिए कि द्यूतका कुछ अधिक रसमय और निर्दोष पहलू था ही नहीं। भारतीय साहित्यका एक अच्छा भाग प्रेमियोंकी द्यूतलीलाका वर्णन है। उसमें भारतीय मनीषाका स्वाभाविक सरस प्रवाह सुन्दर रूपमें सुरक्षित है। विवाहके अवसरपर दुलहिनकी सखियाँ वरको द्यूतमें ललकारती थीं और नाना प्रकारके पण रखकर उसे छकानेका उपाय करती थीं। विवाहके बाद वर-वधू आपसमें नाना भावके रसमय पण रखकर द्यूतमें एक दूसरेको ललकारते थे और यद्यपि इन प्रेमद्यूतोंमें हारना भी जीत थी और जीतना भी तथापि प्रत्येक पक्षमें जीतनेका ही उत्साह प्रधान रहता था—

भोगः स यद्यपि जये च पराजये च
यूनो मनस्तदपि वांछति जेतुमेव !

८४—मल्लविद्या

मल्लविद्या भारतवर्षकी अति प्राचीन विद्या है। आज भी उसका कुछ न कुछ गौरव अवशिष्ट रह ही गया है। प्राचीन भारतमें मल्लोंका बड़ा सम्मान था। प्रतिस्पर्द्धी मल्लोंकी कुश्ती नागरिकोंके मनोरंजनके प्रधान साधनोंमें थी। महाभारतके विराट् पर्व (१२ वें अध्यायमें) में भीम और जीमूत नामक मल्लकी कुश्तीका बहुत ही हृदयग्राही चित्र दिया हुआ है। दर्शकोंसे भरी हुई मल्ल-रंगशालामें भीम बलशाली शार्दूलकी भाँति शिथिल गतिसे उपस्थित हुए। उन्हें अपने पह-चाने जानेकी शंका थी इसीलिये संकुचित थे। रंगशालामें प्रवेश करके उन्होंने पहले मत्स्यराजको अभिवादन किया, फिर कक्षा (काछा) बाँधने लगे। उनके काछा बाँधते समय जनमंडलीमें अपार हर्षका संचार हुआ। इस वर्णनसे प्राचीन भारतकी मल्ल-मर्यादाका अच्छा परिचय मिलता है। लंगोट अखाड़ेमें बाँधनेकी प्रथा थी। प्रतिद्वंद्वी एक दूसरेको ललकारकर पहले बाहुयुद्धमें भिड़ जाते थे और फिर एक दूसरे-के नीचे घुसकर उलाट देनेका प्रयत्न करते थे। इसके बाद नाना कौशलोंसे एक दूसरेको पछाड़ देनेका प्रयत्न करते थे। मल्लोंके हाथों कक्कट अर्थात् घट्ठे पड़े होते थे। इस प्रसंगमें महाभारतमें नाना प्रकारके मल्लविद्याके पारिभाषिक शब्द भी आए हैं। अर्जुन मिश्रने अपनी भारतदीपिकामें अन्य शास्त्रोंसे वचन उद्धृत करके इन शब्दोंकी व्याख्या की है। 'कृतदाव'मारनेको और'प्रतिकृत'उसे काट देनेको कहते थे। चित्रमें नाना प्रकारके मल्लबंधके दाँव चलाए जाते थे। परस्परके संघातको 'सन्निपात', मुक्का मारनेको 'अवधूत', गिराकर पीस देनेको 'प्रमाथ', ऊपर अन्तरीक्षमें बाहुओंसे प्रतिद्वन्द्वीको रगेदनेको 'उन्मथन'और स्थानच्युत करनेको 'प्रच्यावन' कहते थे। नीचे मुखवाले प्रतिद्वन्द्वीको अपने कन्धेपरसे घुमाकर पटक देनेसे जो शब्द होता था उसे 'बराहोद्धूतनिस्वन' कहते थे। फैली हुई भुजाओंसे तर्जनी और अंगुष्ठके मध्य भागसे प्रहार करनेको 'तलाख्य' और अर्द्धचन्द्रके समान मल्लकी मुट्ठीको 'वज्र' कहा जाता था। फैली अंगुलियोंवाले हाथसे प्रहार करनेको 'प्रहृति' कहते थे। इसी प्रकार पैरसे मारनेको 'पादोद्धत', जंघाओंसे रगेदनेको 'शवघट्टन', जोरसे प्रतिद्वन्द्वीको अपनी ओर खींच लानेको 'प्रकर्षण', घुमाकर खींचनेको 'अभ्याकर्ष', खींचकर पीछे ले जानेको 'विकर्षण' कहते थे।

इसी प्रकार भागवत (१०-४२-४४) में कंसकी मल्लशालाका बड़ा सुन्दर

चित्र दिया हुआ है। पहलवानोंने उस रंगशालीकी पूजाकी थी, तूर्यभेरी आदि बाजे बजाए गए थे। नागरिकोंके बैठनेके लिये बने हुए मञ्चोंको माला और पताकाओंसे सजाया गया था। नगरवासी (पौर) और देहातके रहने वाले (जानपद) ब्राह्मण क्षत्रिय आदि नागरिक तथा राजकर्मचारी अपने-अपने निर्दिष्ट स्थानों पर बैठे थे। कंसका आसन बीचमें था और वह अनेक मण्डलेश्वरोंसे घिरा हुआ था। सब लोगोंके आसन ग्रहण कर लेनेके बाद मल्ल तालका तूर्य बजा और सुसज्जित मल्ल लोग अपने-अपने उस्तादोंके साथ रंगशालामें पधारे। नन्द गोपोंको भी बुलाया गया, उन्होंने अपने उपहार राजाको भेंट किए और यथास्थान बैठ गए। इस पुराणमें मल्ल-विद्याके अनेक पारिभाषिक शब्दोंका उल्लेख है। परिभ्रामण-विक्षेप-परिरम्भ- अवयातन-उत्सर्पण-अपसर्पण-अन्योन्यप्रतिरोध-उत्थापन - उन्नयन-स्थापन-चालन आदि (भागवत, १०-४४-८--५२) पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग किया गया है। दुर्भाग्यवश इस विद्याके विवरण-ग्रन्थ अब प्राप्त नहीं हैं। पुराणोंमें और टीकाओंमें ही थोड़ा बहुत साहित्य बच रहा है।

८५---वैनोदिक शास्त्र

राजशेखरने काव्य-मीमांसाके आरम्भमें ही काव्य विद्याके अट्ठारह अंगोंके नाम गिनाए हैं, जिनमें एक वैनोदिक भी है। अलङ्कारशास्त्रमें इस प्रकारका अंग-विभाग साधारणतः नहीं पाया जाता और इसलिये राजशेखरकी काव्य-मीमांसाके एक अंशका उद्धार होनेपर अब पंडितोंको यह नयी बात मालूम हुई तो इन अंगों और इनके प्रवर्त्तक आचार्योंके सम्बन्धमें नाना भाँतिकी जल्पना-कल्पना चलने लगी। इन अंगोंमेंसे कई तो निश्चित रूपसे ऐसे हैं जिनका परिचय अलंकार-शास्त्रके भिन्न-भिन्न ग्रन्थोंसे मिल जाता है पर कुछ ऐसे भी हैं जो नयेसे लगते हैं। 'वैनोदिक' एक ऐसा ही अङ्ग है।

'वैनोदिक' नाम ही विनोदसे सम्बन्ध रखता है। कामशास्त्रीय ग्रन्थोंमें (काम सूत्र, १-४) मद्पानकी विधियाँ, उद्यान और जलाशय आदिकी क्रीड़ाएँ, मुर्गे और बटेरों आदिकी लड़ाइयाँ, द्यूत क्रीड़ाएँ, यक्ष या सुख रात्रियाँ, कौमुदी जागरण अर्थात् चांदनी रातमें जागकर क्रीड़ा करना इत्यादि बातोंको 'वैनोदिक' कहा गया है। राजशेखरने इस अंगके प्रवर्त्तकका नाम 'कामदेव' दिया है, इसपरसे पण्डितोंने

अनुमान भिड़ाया है कि कामशास्त्रीय विनोद और काव्यशास्त्रीय विनोद एक ही वस्तु होंगे। परन्तु कामदेव नामक पौराणिक देवता और वैनोदिक-शास्त्र-प्रवर्त्तक कामदेव नामक आचार्य एक ही होंगे, ऐसा अनुमान करना ठीक नहीं भी हो सकता है। राजा भोजके 'सरस्वतीकण्ठाभरण'से यह अनुमान और भी पुष्ट होता है कि कामोद्दीपक क्रिया-कलाप ही वस्तुतः वैनोदिक समझे जाते होंगे। शारदा-तनयके 'भावप्रकाश'में नाना ऋतुओंके लिये विलास-सामग्री बताई गई है। वह परम्परा बहुत दूरतक, ग्वाल और पद्माकर तक आकर अपने चरम विलासपर पहुँचकर समाप्त हो गई है। अतः इन वैनोदिक सामग्रियोंका कामशास्त्रवर्णित सामग्रियोंसे मिलना न तो आश्चर्यका कारण हो सकता है और न यही सिद्ध करता है कि कामसूत्रमें जो कुछ वैनोदिकके नामसे दिया गया है वही काव्यशास्त्रीय वैनोदिकका भी प्रतिपाद्य है।

कादम्बरीमें बाणभट्टने राजा शूद्रककी वर्णनाके प्रसंगमें कुछ ऐसे काव्य-विनोदोंकी चर्चा की है जिनके अभ्याससे राजा कामशास्त्रीय विनोदोंके प्रति वितृष्ण हो गया था। हमारा अनुमान है कि ऐसे ही विनोद काव्यशास्त्री विनोद कहे जाते होंगे। वे इस प्रकार हैं—वीणा, मृदंग आदिका बजाना, मृगया, विद्वत्सेवा, विदग्धों यानी रसिकोंकी मंडलीमें काव्यप्रबन्धादिकी रचना करना, आख्यायिका आदिका सुनना, आलेख्य कर्म, अक्षरच्युतक, मात्राच्युतक, बिंदुमती, गूढ़ चतुर्थपाद, प्रहेलिका आदि। शूद्रक इन्हीं विनोदोंसे काल-यापन करता हुआ "वनिता-संभोग-पराङ्मुख" हो सका था। यहाँ स्पष्ट ही कामशास्त्रीय विनोदोंके साथ इन विनोदोंका विरोध बताया गया है, क्योंकि कामशास्त्रीय विनोदोंका फल और चाहे जो कुछ भी हो, 'वनिता-संभोग-पराङ्मुखता' नहीं है। उन दिनों सभा और गोष्ठियोंमें इन विनोदोंकी जानकारीका बड़ा महत्व था। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि दण्डीने काव्यादर्श (१-१०५)में कीर्ति प्राप्त करनेकी इच्छावाले कवियोंको श्रम-पूर्वक सरस्वतीकी उपासनाकी व्यवस्था दी है क्योंकि कवित्वशक्तिके दुर्बल होनेपर भी परिश्रमी मनुष्य विदग्ध गोष्ठियोंमें इन उपायोंको जानकर विहार कर सकता था :

तदस्ततंद्रैरनिशं सरस्वती
श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमाः
विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते ॥

यह स्पष्ट कर देना उचित है कि यहाँ यह नहीं कहा जा रहा कि कामशास्त्र-में जो कुछ कहा गया है वह निश्चित रूपसे काव्यशास्त्रीय विनोदोंमें नहीं आ सकता। हमारे कहनेका तात्पर्य यह है कि काव्यके वैनोदिक अंगके नामसे जो बातें मिलती हैं वही हू-ब-हू काव्यशास्त्रीय वैनोदिक नहीं हो सकतीं और कहीं-कहीं निश्चित रूपसे उल्लेख मिलता है कि काव्यशास्त्रीय विनोदोंके अभ्याससे राजकुमार-गण कामशास्त्रीय विनोदोंसे बच जाया करते थे। स्वयं वात्स्यायनके 'कामसूत्र'में इस प्रकारकी काव्य-कलाओंकी सूची है जो यद्यपि कामशास्त्रीय विनोदोंकी सिद्धिके लिये गिनाए गए हैं, तथापि उन्हें 'वनिता-संभोग-पराङ्मुखता'के उद्देश्यसे कोई व्यवहार करना चाहे तो शूद्रककी भाँति निःसंशय उसका उपयोग कर सकता है।

वात्स्यायनकी ६४ कलाओंकी लम्बी सूचीमें कुछका सम्बंध विशुद्ध मनोविनोद-से है जो चीनी तुर्किस्तानकी चंगबाजी या रोमके पशुयुद्धसे मिलती जुलती हैं। इन-में भेड़ों, मुर्गों और तित्तिरोंकी लड़ाई, तोतों और मैनोंको पढ़ाना है और ऐसी ही और-और बातें हैं। कुछ प्रेमके घात-प्रतिघातमें सहायक हैं, जैसे प्रियाके कपोलोंपर पत्राली लिखना, दाँत और वस्त्रोंका रंगना, फूलों और रंगे हुए चावलोंसे नाना प्रकारके नयनाभिराम चित्र बनाना इत्यादि। और बाकी विशुद्ध साहित्यिक हैं जिनके लक्षण यद्यपि काव्य-ग्रन्थोंमें मिल जा सकते हैं, पर प्रयोगकी भंगिमा और योजना अपूर्व और विलक्षण है।

उन दिनों बड़ी-बड़ी गोष्ठियों, समाजों और उद्यानयात्राओंका आयोजन होता था, उनमें नाना-नाना प्रकारके साहित्यिक मनोविनोदोंकी धूम मच जाती थी। कुछ मनोविनोदोंकी चर्चा की जा रही है।

(१) प्रतिमाला या अन्त्याक्षरीमें एक आदमी एक श्लोक पढ़ता था और उसका प्रतिपक्षी पण्डित श्लोकके अन्तिम अक्षरसे शुरू करके दूसरा अन्य श्लोक पढ़ता। यह परम्परा लगातार चलती जाती थी। (२) दुर्वाचक योगके लिये ऐसे कठोर उच्चारणवाले शब्दोंका श्लोक सामने रखा जाता था कि जिसे पढ़ सकना बड़ा मुश्किल होता। उदाहरणके लिये जयमंगलाकारने यह श्लोक बताया है—

दंष्ट्राग्रद्धर्या प्रग्योद्राक् क्ष्मामम्बन्तः स्थामुन्चिक्षेप।
देवभ्रुट्क्षिद्धचृत्विक् स्तुत्यो युष्मानसोऽव्यात् सर्पात्केतुः

(३) मानसीकला एक अच्छा साहित्यिक मनोविनोद थी। कमलके या अन्य किसी वृक्षके पुष्प अक्षरोंकी जगहपर रख दिए जाते थे। इसे पढ़ना पड़ता

था। पढ़नेवालेकी चातुरी इस बातपर निर्भर करती थी कि वह इन इकार उकार आदिकी सहायतासे एक ऐसा छन्द बना ले जो सार्थक भी हो और छन्दके नियमोंके विरुद्ध भी न हो। यह बिन्दुमतीसे कुछ मिलता जुलता है। लेकिन इस कलाका और भी कठिन रूप यह होता था कि पढ़नेवालेके सामने फूल आदि कुछ भी न रखकर केवल उसे एक बार सुना दिया जाता था कि यहाँ कौन-सी मात्रा है और कहाँ अनुस्वार विसर्ग है। (४) अक्षरमुष्टि दो तरहकी होती थी। साभासा और निरवभासा। साभासा संक्षिप्त करके बोलनेकी कला है, जैसे 'फाल्गुण-चैत्र-वैशाख' को 'फा चै वै' कहना। इस प्रकारके संक्षिप्तीकृत श्लोकोंका अर्थ निकालना सचमुच टेढ़ी खीर है। निरवभासा या निराभासा अक्षरमुष्टि गुप्त भावसे बातचीत करनेकी कला है। इसके लिये उन दिनों नाना भाँतिके संकेत प्रचलित थे। हथेली और मुट्ठीको भिन्न-भिन्न आकारमें दिखाने से भिन्न-भिन्न वर्ग सूचित होते हैं। जैसे कवर्गके लिये मुट्ठी बाँधना, चवर्गके लिये हथेलीको किसलयके समान बनाना, इत्यादि। वर्ग बतानेके बाद उसके अक्षर बताए जाते थे और इसके लिए अंगुलियोंको उठाकर काम चलाया जाता था जैसे ग कहना है तो पहले मुट्ठी बाँधी गई और फिर तीसरी अंगुली उठाई गई। इस प्रकार अक्षर तय हो जानेपर पोरोंसे या चुटकी बजाकर मात्राकी संख्या बताई जाती थी। पुराने संकेतोंका एक श्लोक इस प्रकारहै

मुष्टिः किसलयं चैवं घटा च त्रिपताकिका।
पताकां कुशमुद्राद्यमुद्रा वर्गेषु सप्तसु।

ऐसे ही नाना प्रकारके साहित्यिक मनोविनोद उन दिनों काफी प्रचलित थे।

अब यदि इस प्रकारके समाजमें कविको कीर्ति प्राप्त करना है तो उसे इन विषयोंका अभ्यास करना ही होगा। यही कारण है कि भारतीय साहित्यमें यद्यपि 'रस' को काव्यका श्रेष्ठ उपादान स्वीकार किया गया है तथापि नाना प्रकारकी शब्द-चातुरी और अर्थचातुरीको भी स्थान दिया गया है।

८६—प्रकृतिकी सहायता

भारतवर्षका नक्षत्र-तारा-खचित नील आकाश नद-नदी पर्वतोंसे शोभायमान विशाल मैदान और तृण-शाद्वलोंसे परिवेष्टित हरित वनभूमिने इस देशको उत्सवोंका

देश बना दिया है। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि वसन्तागमके साथ ही साथ किस प्रकार भारतीय चित्त आह्लाद और उल्लाससे नाच उठता था। मदनपूजा, कुसुम-चयन, हिन्दोल-लीला, उदकक्ष्वेडिका आदि उल्लासपूर्ण विनोदोंसे समग्र जन-चित्त आन्दोलित हो उठता था। राज अन्तःपुरसे लेकर गरीब किसानकी झोपड़ी तक नृत्य-गीतकी मादकता बह जाती थी और जनचित्तके इस उल्लासको प्रकृति अपने असीम ऐश्वर्यसे सौगुना बढ़ा देती थी। और भला जब दिगन्त सहकार (आम)-मंजरीके केसरसे मूर्च्छमान हो, और मधुपानसे मत्त होकर भौंरे गली-गली घूम रहे हों तो ऐसे भरे वसन्तमें किसका चित्त किसी अज्ञात उत्कंठासे कातर नहीं हो जायगा?

सहकारकुसुमकेसरनिकरभरामोदमूर्च्छितदिगन्ते।
मधुरमधुविधुरमधुपे मधौ भवेत् कस्य नोत्कंठा?

वसन्त फूलोंका ऋतु है। लाल-लाल पलाश, गुलाबी काञ्चनार, सुवर्णाभ आरग्वध, मुक्ताफलके समान सिदुन्वार, कोमल शिरीष और दूधके समान श्वेत मल्लिका आदि पुष्पोंसे वनभूमि चित्रकी भाँति मनोहर हो उठती है, पुष्पपल्लवोंके भारसे वृक्ष लद जाते हैं, कुसुम-स्तवकोंसे फूली हुई मञ्जुल लताएं मलयानिलके झोंकोंसे लहराने लगती हैं, मदमत्त कोकिल और भ्रमर अकारण औत्सुक्यसे लोकमानसको हिल्लोलित कर देते हैं, ऐसे समयमें उत्कंठा न होना ही अस्वाभाविक है। वनभूमि तक जब नृत्य और वाद्यसे मदिर हो उठी तब मनुष्य तो मनुष्य ही है। कौन है जो मल्लिकाका रस पीकर मतवाली बनी हुई भ्रमरियोंके कलगानको और दक्षिणी पवनरूपी उस्तादजीसे शिक्षा पाई हुई वञ्जुल (बेत) लताकी मंजरियोंका नर्तन देखकर उत्सुक न हो उठे? पुराना भारतवासी जीवन्त था, वह इस मनोहरी शोभाको देखकर मुग्ध हो उठता था—

इह मधुपवधूनां पीतमल्लीमधूनां
विलसति कमनीयः काकलीसंप्रदायः।
इह नटति सलीलं मञ्जरी बञ्जुलस्य
प्रतिपदमुपदिष्टा दक्षिणेनानिलेन॥

सो, वसन्तके समागमके साथ ही साथ प्राचीन भारतका चित्त जाग उठता था; वह नाच-गान खेल-तमाशेमें मत्त हो उठता था।

वसन्तके बाद ग्रीष्म। पश्चिमी रेगिस्तानी हवा आग बरसाती हुई त्रिलोककी समूची आर्द्रताको सोख लेती, दावाग्निकी भाँति नील वनराजिको भस्मसात् कर

देती, विकराल ववण्डरोंसे उड़ाई हुई तृण धूलि आदिसे आसमान भर जाता और बड़े-बड़े तालाबोंमें भी पानी सूख जानेसे मछलियाँ लोटने लगतीं—सारा वातावरण भयंकर अग्निज्वालासे धधक उठता—फिर भी उस युगका नागरिक इस विकट कालमें भी अपने विलासका साधन संग्रह कर लेता था। कविने सन्तोषके साथ नागरिकके इस विलासका औचित्य बताया है। भला यदि ग्रीष्म न होता तो ये सफेद महीन वस्त्र, सुगन्धितम कर्पूरका चूर्ण, चन्दनका लेप, पाटल पुष्पोंसे सुसज्जित धारागृह (फव्वारेवाले घर), चमेलीकी माला, चन्द्रमाकी किरणें क्या विधाताकी सृष्टिकी व्यर्थ चीजें न हो जातीं ?

> अत्यच्छं सितमंशुकं शुचि मधु स्वामोदमच्छं रजः
> कार्पूरं विधृतार्द्रचन्दनकुचद्वंद्वाः कुरंगीदृशः ।
> धारावेश्म सपाटलं विचकिलस्रग्दाम चन्द्रत्विषा
> धातः सृष्टिरियं वृथैव तव नो ग्रीष्मोऽभविष्यद्यदि ॥

इस ग्रीष्मकालका सर्वोत्तम विनोद जलक्रीड़ा था जिसका काव्योंमें अत्यधिक वर्णन पाया जाता है। जलाशयोंमें विलासिनियोंके कानमें धारण किए हुए शिरीष-पुष्प छा जाते थे, पानी चन्दन और कस्तूरिकाके आमोदसे तथा नाना रंगके अंगरागोंसे और शृङ्गारसाधनोंसे रंगीन हो जाता था, जल-स्फालनसे उठे हुए जल-बिन्दुओंसे आकाशमें मोतियोंकी लड़ी बिछ जाती थी, जलाशयके भीतरसे गूंजते हुए मृदंगघोषको मेघकी आवाज समझकर बेचारे मयूर उत्सुक हो उठते थे, केशोंसे खिसके हुए अशोक-पल्लवोंसे कमल-दल चित्रित हो उठते थे और आनन्द-कल्लोलसे दिङ्मण्डल मुखरित हो उठता था। प्राचीन चित्रोंमें भी यह जलकेलि मनोरम भावसे अंकित है। इस प्रकार प्रकृतिके तीव्र तापकी पृष्ठभूमिमें मनुष्य-चित्तका अपना शीतल विनोद विजयी बनकर निकलता था। वसन्तमें प्रकृति मानव-चित्तके अनुकूल होती है और इसलिये वहाँ आनुकूल्य ही विनोदका हेतु है पर ग्रीष्मके विनोदके मूलमें है विरोध। प्रकृति और मनुष्यकी विरुद्ध मनोदशाओंसे यह विनोद अधिक उज्ज्वल हो उठता था। एक तरफ प्रकृतिका प्रकुपित निःश्वास बड़े-बड़े जलाशयोंको इस प्रकार सुखा देता था कि मछलियाँ कीचड़में लोटने लगती थीं और दूसरी तरफ मनुष्यके बनाए क्रीड़ा-सरोवरोंमें वारिविलासिनियोंके कानोंसे खिसके हुए शिरीष पुष्प—जो इस ग्रीष्मकालमें उत्तम और उचित कानोंके गहने हुआ करते थे—मुग्ध मछलियोंके चित्तमें शैवाल जालका भ्रम उत्पन्न करके

उन्हें चंचल बना देते थे !—

अमी शिरीषप्रसवावतंसाः
प्रभ्रंशिनो वारिविहारिणीनाम् ।
पारिप्लवाः केलिसरोवरेषु
शैवाललोलांश्छलयन्ति मीनान् ॥

ग्रीष्म बीतते ही वर्षा। आसमान मेघोंसे, पृथ्वी नवीन जलकी धारासे, दिशाएँ बिजलीकी चञ्चल लताओंसे, वायुमण्डल वारिधारासे, वनभूमि कुटज-पुष्पोंसे और नदियाँ बाढ़से भर गईं—

मेघैर्व्योम नवांबुभिर्वसुमती विद्युल्लताभिर्दिशो ।
धाराभिर्गगनं वनानि कुटजैः पूरैर्वृता निम्नगाः ।

मालती और कदम्ब, नीलोत्पल और कुमुद, मयूर और चातक, मेघ और विद्युत् वर्षाकालको अभिराम सौन्दर्यसे भर देते हैं। प्राचीन भारत वर्षाका उपभोग नाना भावसे करता था। सबसे सुन्दर और मोहक विनोद झूला झूलना था जो आज भी किसी न किसी रूपमें बचा हुआ है। मेघ-निःस्वन और धाराकी रिमझिम-के साथ झूलेकी अद्भुत तुक मिलती है (दे० पृ० ३७)। जिस जातिने इस विनोदका इस ऋतुके साथ सामंजस्य ढूँढ़ निकाला है उसकी प्रशंसा करनी चाहिए। वर्षाकाल कितने आनन्द और औत्सुक्यका काल है उसे भारतीय साहित्यके विद्यार्थी मात्र जानते हैं। मेघदूतका अमर संगीत इसी कालमें सम्भव था। कोई आश्चर्य नहीं यदि केका (मोरकी वाणी) की आवाजसे, मेघोंके गर्जनसे, मालती-लताके पुष्प-विकाससे, कदम्बकी भीनी-भीनी सुगन्धसे और चातककी रटसे मनुष्यका चित्त उत्क्षिप्त हो जाय—वह किसी अहैतुक औत्सुक्यसे चञ्चल हो उठे। वर्षाका काल ऐसा ही है। यह वह काल है जब हंस आदि जलचर पक्षी भी अज्ञात औत्सुक्यसे चञ्चल होकर मानसरोवरकी ओर दौड़ पड़ते हैं। राजहंसके विषयमें काव्य-ग्रन्थोंमें कहा गया है कि वर्षाकालमें वह उड़कर मानसरोवरकी ओर जाने लगता है। बल्कि यह कवि-प्रसिद्धि हो गई है कि वर्षा ऋतुका वर्णन करते समय यह जरूर कहा जाय कि ये उड़कर मानसरोवरकी ओर जाते हैं (साहित्यदर्पण ७, २३)। कालि-दासके यक्षने अपने सन्देशवाही मेघको आश्वस्त कराते हुए कहा था कि हे मेघ, तुम्हारे श्रवण-सुभग मनोहर गर्जनको सुनकर मानसरोवरके लिये उत्कंठित होकर राज-हंस मुँहमें मृणाल-तन्तुका पाथेय लेकर उड़ पड़ेंगे और कैलास पर्वत तक तुम्हारा

साथ देंगे—

> कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलींध्रामवंध्याम्।
> तच्छ्रुत्वाते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्काः॥
> आकैलासाद्विसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः।
> संपत्स्यंते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः॥
>
> (मेघदूत १-११)

परन्तु प्राचीन भारतका सहृदय अपने इस प्रिय पक्षीके उत्सुक हृदयको पहचानता था, उसने अपने क्रीड़ा-सरोवरमें ऐसी व्यवस्था कर रखी थी कि हंस उस वियोगी पथिककी भाँति दिङ्मूढ़ न होने पावे जो अभागा वर्षाकालमें घरसे बाहर निकल पड़ा था और ऊपर घनपटल मेघको, अगल बगलमें मोर नाचते हुए पहाड़ोंको, तथा नीचे तृणांकुरोंसे धवल पृथ्वीको देखकर ऐसा विरह-विधुर हुआ था कि सोच ही नहीं पा रहा था कि किधर दृष्टि दे—सब तरफ तो दिलमें हूक पैदा करनेवाली ही सामग्री थी :—

> उपरि घनं घनपटलं तिर्यग्गिरयोऽपि नर्तितमयूराः।
> क्षितिरपि कन्दलधवला दृष्टिं पथिकः क्व पातयतु ?

काव्य-ग्रन्थोंमें यह वर्णन भी मिलता है कि राजाओं और रईसोंकी भवन-दीर्घिका (घरका भीतरी तालाब) और क्रीड़ा-सरवरोंमें सदा पालतू हंस रहा करते थे। कादम्बरीमें कहा गया है कि जब राजा शूद्रक सभा-भवनसे उठे तो उनको लेकर चलनेवाली वारविलासिनियोंके नूपुर-रवसे आकृष्ट होकर भवन-दीर्घिकाके कलहंस सभागृहकी सोपान-श्रेणियोंको धवलित करके कोलाहल करने लगे थे और स्वभावतः ही ऊँची आवाजवाले गृह-सारस मेखला—ध्वनिसे उत्कण्ठित होकर इस प्रकार क्रेंकार करने लगे मानों कांसेके बर्तनपर रगड़ पड़नेसे कर्णकटु आवाज निकल रही हो। कालिदासने गृह-दीर्घिकाओंके जिन उदक-लोल विहंगमोंका वर्णन किया है वे मल्लिनाथके मतसे हंस ही थे। यद्यपि संस्कृतका कवि राजहंस और कलहंसको सम्बोधन करके कह सकता है कि हे हंसो, कमल धूलिसे धूसरांग होकर इस भ्रमर-गुंजित पद्मवनमें हंसिनियोंके साथ तभी तक क्रीड़ा कर लो जब तक कि हर-गरल और कालव्याल-जालावलीके समान निबिड़ नील मेघसे सारे दिङ्मण्डलको काला कर देनेवाला (वर्षा) काल नहीं आ जाता, परन्तु भवन-दीर्घिकाके हंस फिर भी निश्चिन्त रहेंगे। उन्हें किस बातकी कमी है कि वे मेघके साथ मानस-

सरोवरकी ओर दौड़ पड़ें। यही कारण है कि यक्षके बगीचेमें जो मरकत मणियोंके घाटवाली वापी थी, जिसमें स्निग्ध वैदूर्य-नाल वाले स्वर्णमय कमल खिले हुए थे, उसमें डेरा डाले हुए हंस, मानसरोवरके निकटवर्ती होने पर भी मेघको देखकर वहाँ जानेके लिये उत्कण्ठित होने वाले नहीं थे। उनको वहाँ किस बातकी चिन्ता थी, वे तो 'व्यपगत-शुच्' थे। यह व्याख्या गलत है कि यक्षका गृह ऐसे स्थान पर था जहाँ वस्तुतः हंस रुक जाते हैं। सही व्याख्या यह है, जैसा कि मल्लिनाथने कहा है, कि वर्षाकालमें भी उस वापीका जल कलुष नहीं होता था इसलिये वहाँके हंस निश्चिन्त थे।

वर्षा बीती और लो, नववधूकी भाँति शरद ऋतु आ गई। प्रसन्न है उसका चन्द्रमुख, निर्मल है उसका अम्बर, उत्फुल्ल हैं उसके कमल-नयन, लक्ष्मीकी भाँति विभूषित है वह लीला-कमलसे तथा उपशोभित है हंस-रूपी बाल-व्यजन (नन्हें-से पंखे) से। आज जगतका अशेष तारुण्य प्रसन्न है।

अद्य प्रसन्नेन्दुमुखी सिताम्बरा
समाययावुत्पलपत्रनेत्रा।
सपंकजा श्रीरिव गां निषेवितुं
सहंस-बाल-व्यजना शरद्वधूः ॥

—महामनुष्य

शरद्वधू आई और साथमें लेती आई कादम्ब और कारण्डवको, चक्रवाक और सारसको, क्रौंच और कलहंसको। आदि कविने लक्ष्य किया था (किष्किन्धा, ३०) कि शरदागमनके साथ ही साथ पद्म-धूलि-धूसर सुन्दर और विशाल पक्षवाले कामुक चक्रवाकोंके साथ कलहंसोंके झुण्ड महानदियोंके पुलनोंपर खेलने लगे थे। प्रसन्नतोया नदियोंके सारस-निनादित स्रोतमें जिनमें कीचड़ तो नहीं था, पर बालूका अभाव भी नहीं था—हंसोंका झुण्ड झम्प देने लगा था। एक हंस कुमुद-पुष्पोंसे घिरा हुआ सो रहा था और प्रशान्त निर्मल ह्रदमें वह ऐसा सुशोभित हो रहा था, मानो मेघमुक्त आकाशमें तारागणोंसे वेष्टित पूर्ण चन्द्र हो। संस्कृतके कविने शरद् ऋतुमें होनेवाले अद्भुत परिवर्तनको अपनी और भी अद्भुत भंगीसे इस प्रकार लक्ष्य किया था कि आकाश अपनी स्वच्छतासे निर्मल नीर-सा बना हुआ है, कान्ता अपनी कमनीय गतिसे हंस-सी बनी जा रही है और हंस अपनी शुक्लतासे चन्द्रमा-सा बना जा रहा। सब कुछ विचित्र, सब कुछ नवीन, सब कुछ स्फूर्तिदायक।

शरद् ऋतु उत्सवोंका ऋतु है। कौमुदी-महोत्सव, रात्रि-जागरण, द्यूत-विनोद और सुख-रात्रियोंके लिये इतना उत्तम समय कहाँ मिलेगा ? शरद् ऋतुके बाद शीतकाल आता था परन्तु यह शीत इस देशमें इतना कठोर नहीं होता कि कोई उत्सव मनाया ही न जा सके। हेमन्त काल युवक-युवतियोंकी कन्दुक-क्रीड़ाका काल था। यह कन्दुक-क्रीड़ा प्राचीन भारतका अत्यन्त सरस विनोद था और अवसर पाते ही कवियोंने दिल खोलकर इसका वर्णन किया है। सुन्दर मणिनूपुरोंके क्वणन, मेखलाकी चंचल लरोंका झणझणायित और बारबार टकरानेवाली चंचल चूड़ियों-की रुनझुनके साथकी कन्दुक-क्रीड़ामें अपना एक स्वतन्त्र छन्द है जो बरबस मन हरण करता होगा।

अमन्द मणिनूपुरक्वणनचारुचारिक्रमं
झणज्झणितमेखलातरलतारहारच्छटम्।
इदं तरलकंकणावलिविशेषवाचालितं
मनो हरति सुभ्रुवः किमपि कन्दुकक्रीड़ितम्।

सो भारतवर्षकी प्रकृति अनुकूल होकर भी और प्रतिकूल होकर भी सरस विनोदकी सहायता करती थी। उस दिन इस देशका चित्त जागरूक था, आज वह वैसा नहीं है। हम उस कल्पलोकको आश्चर्य और संभ्रमके साथ देखते रह जाते हैं।

८७ सामाजिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि

समूचे प्राचीन भारतीय साहित्यमें जो बात विदेशी पाठकोंको सबसे अधिक आश्चर्यमें डाल देती है, वह यह है कि इस साहित्यमें कहीं भी असन्तोष या विद्रोहका भाव नहीं है। पुनर्जन्म और कर्मफलके सिद्धान्तोंके स्वीकार कर लेनेके कारण पुराना भारतीय इस जगत्को एक उचित और सामंजस्यपूर्ण विधान ही मानता आया है। यदि दुःख है तो इसमें असन्तुष्ट होनेका कोई हेतु नहीं क्योंकि मनुष्य इस जगत्में अपने किएका फल भोगनेको आया ही है। इस असन्तोषके अभावने सामाजिक वातावरणको आनन्द, उल्लास और उत्सवके अनुकूल बना दिया है। यही कारण है कि भारतीय चित इन उत्सवोंको केवल थके हुए दिमागका विश्राम नहीं समझता, वह इसे मांगल्य मानता है। नाच, गान, नाटक केवल मनो-विनोद नहीं हैं, परम मांगल्यके जनक हैं, इनको विधिपूर्वक करनेसे गृहस्थके अनेक

पुराकृत कर्मसे उत्पन्न विघ्न नष्ट होते हैं, पापक्षय होता है और सुललित फलोंवाला कल्याण होता है—

मङ्गल्यं ललितैश्चैव ब्रह्मणो वदनोद्भवम्
सुपुण्यं च पवित्रं च शुभं पापविनाशनम् ।
(नाट्यशास्त्र ३६-७३)

क्योंकि देवता गन्धमाल्यसे उतना प्रसन्न नहीं होते जितना नाट्य और नृत्यसे होते हैं (नाट्यशास्त्र ३६-७७)। जो इस नाट्यको सावधानीके साथ सुनता है या जो प्रयोग करता है या जो देखता है वह उस गतिको प्राप्त होता है जो वेदके विद्वानोंको मिलती है, जो यज्ञ करनेवालेको मिलती और जो गति दानशीलोंको प्राप्त होती है (ना० शा० ३६-७४-७५) क्योंकि जैसा कि कालिदास जैसे क्रान्तदर्शी कह गए हैं, मुनि लोगोंने इसे देवताओंका अत्यन्त कमनीय चाक्षुष यज्ञ बताया है।

देवानामिममामनन्ति मुनयः
कान्तं क्रतुं चाक्षुषम् ।

शायद ही संसारकी किसी और जातिने नृत्य और नाट्यको इतनी बड़ी चीज समझा हो। यही कारण है कि प्राचीन भारत नृत्य और नाट्यको केवल सामयिक विनोद नहीं समझता था, वह इससे कहीं बड़ी चीज है।

यह बात कुछ विचित्र-सी लग सकती है कि यद्यपि गोष्ठी-विहार, यात्रा-उत्सव, नट-युद्ध और नाट्य-प्रदर्शनोंको इतना महत्त्वपूर्ण प्रयोग माना जाता था फिर भी भारतीय गृहस्थ यह नहीं चाहता था कि उसके घरकी बहू-बेटी इन जलसोंमें भाग लें। कामशास्त्रके आचार्यों तकने गृहस्थोंको सलाह दी है कि इन हजूमोंसे अपनी स्त्रियोंको अलग रखें। पद्मश्री नामक बौद्ध कामशास्त्रीने उद्यान-यात्रा, तीर्थ-यात्रा, नटयुद्ध, बड़े-बड़े उत्सव आदिसे स्त्रियोंको अलग रखनेकी व्यवस्था दी है :

उद्यानतीर्थनटयुद्धसमुत्सवेषु
यात्रादिदेवकुलबन्धुनिकेतनेषु ।
क्षेत्रेष्वशिष्टयुवतीरतिसंगमेषु
नित्यं सता स्ववनिता परिरक्षणीया ।
(नागरसर्वस्व ९-१२)

परन्तु ये निषेध ही इस बातके सबूत हैं कि स्त्रियाँ इन उत्सवोंमें जाती जरूर थीं। परन्तु जो लोग नाच-गानका पेशा करते थे वे बहुत ऊँची निगाहसे नहीं देखे

जाते थे, यह सत्य है। क्यों ऐसा हुआ, और ऊपर बताए हुए महान् आदर्शसे इसका क्या सामञ्जस्य है? वस्तुतः नाच-गान नाट्य-रंगके प्रयोगकर्ता स्त्री-पुरुष शिथिल चरित्रके हुआ करते थे, परन्तु उनके प्रयोजित नाट्यादि प्रयोग फिर भी महत्त्वपूर्ण माने जाते थे। पेशा करनेवालोंकी स्वतन्त्र जाति थी और जाति-प्रथाके विचित्र तत्त्ववादके अनुसार उनका शिथिल चरित्र भी उस जातिका एक कर्म मान लिया गया था। जब किसी जातिके कर्मका विधान स्वयं विधाताने कर दिया हो तो उसके बारेमें चिन्ता करनेकी कोई बात रह ही कहाँ जाती है? इस प्रकार भारतवर्ष अम्लान चित्तसे इन परस्पर विरोधी बातोंमें भी एक सामञ्जस्य ढूँढ़ चुका था!

गृहस्थके अपने घरमें भी नृत्य गानका मान था। इस बातके पर्याप्त प्रमाण हैं कि अन्तःपुरकी वधुएँ नाटकोंका अभिनय करती थीं। यहाँ नाट्य और नाट्यके प्रयोक्ता दोनों ही पवित्र और मोहनीय होते थे। यहीं वस्तुतः भारतीय कला अपने पवित्रतम रूपमें पालित होती थी। गृहस्थका मर्म-स्थान उसका अन्तःपुर है और वह अन्तःपुर जिन दिनों स्वस्थ था उन दिनों वहाँ सुकुमारकलाकी स्रोतस्विनी बहती रहती थी। अन्तःपुरकी देवियोंका उच्छृंखल उत्सवों और यात्राओंमें जाना निश्चय ही अच्छा नहीं समझा जा सकता था। परन्तु इसका मतलब यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि स्त्रियाँ हर प्रकारके नाट्य रंगसे दूर रखी जाती थीं। एक प्रकारका हुजूम हर युगमें और हर देशमें ऐसा होता है जिसमें किसी भले घरकी बहू-बेटीका जाना अशोभन होता है। प्राचीन भारतके अन्तःपुरोंमें नाट्य-नृत्यका जो बहुल प्रचार था उसके प्रमाण बहुत पाए जा सकते हैं। हमने पहले कुछ लक्ष्य भी किए हैं।

परिशिष्ट

[श्री ए० वेंकट सुब्बैयाने नाना ग्रन्थोंसे कलाओंकी सूची तैयार की है। वह पुस्तक अडयार (मद्रास) से सन् १९११ में छपी थी। पाठकोंको कलाओंके विषयमें विस्तृत रूपसे जाननेके लिये इस पुस्तकको देखना चाहिए। यहाँ विभिन्न ग्रन्थोंसे चार कला-सूचियाँ संग्रह की जा रही हैं। तीन सूचियाँ श्री वेंकट सुब्बैयाकी पुस्तकमें प्राप्य हैं। चौथी अन्यत्रसे ली गई है। कई स्थानोंपर प्रस्तुत लेखकने श्री वेंकट सुब्बैयाकी व्याख्याओंसे भिन्न व्याख्या दी है, परन्तु इन कलाओंका मूल्य अर्थ समझनेमें उनकी व्याख्याओंसे उसे सहायता बहुत मिली है।]

१—ललितविस्तरकी कलासूची

१ लङ्घितम्—कूदना।

२ प्राक्चलितम्—उछलना।

३ लिपिमुद्रागणनासंख्यासालम्भधनुर्वेदाः—

लिपि—लेखन कला।

मुद्रा—एक हाथ या कभी-कभी दोनों हाथोंके द्वारा अथवा हाथकी उंगलियोंसे भिन्न-भिन्न आकृतियोंका बनाना।

गणना—गिनना।

संख्या—संख्याओंकी गिनती।

सालम्भ—कुश्ती लड़ना।

धनुर्वेद—धनुष-विद्या।

४ जवितम्—दौड़ना।

५ प्लवितम्—पानीमें डुबकी लगाना।

६ तरणम्—तैरना।

७ इष्वस्त्रम्—तीर चलाना।

८ हस्तिग्रीवा—हाथीकी सवारी करना ।
९ रथः—रथसम्बन्धी बातें ।
१० धनुष्कलापः—धनुषसम्बन्धी सारी बातें ।
११ अश्वपृष्ठम्—घोड़ेकी सवारी ।
१२ स्थैर्यम्—स्थिरता ।
१३ स्थाम—बल ।
१४ सुशौर्यम्—साहस ।
१५ बाहुव्यायाम—बाहुका व्यायाम ।
१६ अङ्कुशग्रहपाशग्रहाः—अंकुश और पाश इन दोनों हथियारोंका ग्रहण करना ।
१७ उद्यानर्निर्माणम्—ऊँची वस्तुको फाँदकर और दो ऊँची वस्तुके बीचसे कूदकर पार जाना ।
१८ अपयानम्—पीछेकी ओरसे निकलना ।
१९ मुष्टिबन्धः—मुट्ठी और घूँसेकी कला ।
२० शिखाबन्धः—शिखा बाँधना ।
२१ छेद्यम—भिन्न भिन्न सुन्दर आकृतियोंको काट कर बनाना ।
२२ भेद्यम्—छेदना ।
२३ तरणम्—नाव खेना या जहाज चलाना यातैरना ।
२४ स्फालनम्—(कंदुक आदिको) उछालनेका कौशल ।
२५ अक्षुण्णवेधित्वम्—भालेसे लक्ष्यवेध करना ।
२६ मर्मवेधित्वम्—मर्मस्थलका वेधना ।
२७ शब्दवेधित्वम्—शब्दवेधी बाण चलाना ।
२८ दृढ़प्रहारित्वम्—मुष्टि प्रहार-करना ।
२९ अक्षक्रीड़ा—पाशा फेंकना ।
३० काव्यव्याकरणम्—काव्यकी व्याख्या करना ।
३१ ग्रन्थरचितम्—ग्रन्थ-रचना ।
३२ रूपम्—वास्तु कला (लकड़ी, सोना इत्यादिमें आकृति बनाना) ।
३३ रूपकर्म—चित्रकारी ।
३४ अधीतम्—अध्ययन करना ।

३५ अग्निकर्म—आग पैदा करना।
३६ वीणा—वीणा बजाना।
३७ वाद्यनृत्यम्—नाचना और बाजा बजाना।
३८ गीतपठितम्—गाना और कविता-पाठ करना।
३९ आख्यातम्—कहानी सुनाना।
४० हास्यम्—मज़ाक करना।
४१ लास्यम्—सुकुमार नृत्य।
४२ नाट्यम्—नाटक, अनुकरण-नृत्य।
४३ विडम्बितम्—दूसरेका व्यंगात्मक अनुकरण, कैरिकेचर।
४४ माल्यग्रन्थनम्—माला गूँथना।
४५ संवाहितम्—शरीरकी मालिश।
४६ मणिरागः—बहुमूल्य पत्थरोंका रंगना।
४७ वस्त्ररागः—कपड़ा रंगना।
४८ मायाकृतम्—इन्द्रजाल।
४९ स्वप्नाध्यायः—सपनोंका अर्थ लगाना।
५० शकुनिरुतम्—पक्षीकी बोली समझना।
५१ स्त्रीलक्षणम्—स्त्रीका लक्षण जानना।
५२ पुरुषलक्षणम्—पुरुषका लक्षण जानना।
५३ अश्वलक्षणम्—घोड़ेका लक्षण जानना।
५४ हस्तिलक्षणम्—हाथीका लक्षण जानना।
५५ गोलक्षणम्—गाय, बैलका लक्षण जानना।
५६ अजलक्षणम्—बकरा, बकरीका लक्षण जानना।
५७ मिश्रितलक्षणम्—मिलावट पहचाननेकी या भिन्न-भिन्न जन्तुओंके पहचाननेकी कला।
५८ कैटभेश्वर लक्षणम्—लिपि विशेष।
५९ निर्घण्टुः—कोष।
६० निगमः—श्रुति।
६१ पुराणम्—पुराण।
६२ इतिहासः—इतिहास।

६३ वेदाः—वेद ।
६४ व्याकरणम्—व्याकरण ।
६५ निरुक्तम्—निरुक्त ।
६६ शिक्षा—उच्चारण विज्ञान ।
६७ छन्द—छन्द ।
६८ यज्ञकल्पः—यज्ञ-विधि ।
६९ ज्योतिः—ज्योतिष ।
७० सांख्यम्—सांख्यदर्शन ।
७१ योगः—योगदर्शन ।
७२ क्रियाकल्पः—काव्य और अलंकार ।
७३ वैशेषिकम्—वैशेषिक-दर्शन ।
७४ वेशिकम्—कामसूत्रके अनुसार वैशिक विज्ञानका प्रणयन दत्तक नामक आचार्यने पाटलिपुत्रकी वेश्याओंके अनुरोधसे किया था ।
७५ अर्थविद्या—राजनीति और अर्थशास्त्र ।
७६ बार्हस्पत्यम्—लोकायत मत ।
७७ आश्चर्यम्—?
७८ आसुरम्—राक्षसों सम्बन्धी विद्या ।
७९ मृगपक्षिरुतम्—पशु पक्षीकी बोली समझना ।
८० हेतुविद्या—न्याय-दर्शन ।
८१ जतुयन्त्रम्—लाखके यन्त्र बनाना ।
८२ मधूच्छिष्टकृतम्—मोमका काम ।
८३ सूचीकर्म—सुईके काम ।
८४ विदलकर्म—दलों या हिस्सोंको अलग कर देनेका कौशल ।
८५ पत्रच्छेद्यम्—पत्तियोंको काट-छाँटकर विभिन्न आकृतियाँ बनाना ।
८६ गन्धयुक्ति—कई द्रव्योंके मिश्रणसे सुगन्धि तैयार करना ।

२—वात्स्यायन

१ गीतम्—गाना ।

२ वाद्यम्—बाजा बजाना ।

३ नृत्यम्—नाचना ।

४ आलेख्यम्—चित्रकारी ।

५ विशेषकच्छेद्यम्—(दे० ल० वि० ८५) ।

६ तण्डुलकुसुमबलिविकाराः—पूजाके लिए अक्षत और रंग-बिरंगे फूलोंका सजाना ।

७ पुष्पास्तरणम्—घर या कमरेको फूलोंसे सजाना ।

८ दशनवसनाङ्गरागः—शरीर, कपड़े और दाँतोंपर रंग चढ़ाना ।

९ मणिभूमिका कर्म—गचमें मणि बैठाना ।

१० शयनरचनम्—शय्याकी रचना ।

११ उदकवाद्यम्—पानीको इस प्रकार बजाना कि उससे मुरज नामक बाजेकी आवाज निकले ।

१२ उदकघातः—जल-क्रीड़ामें सखियों या प्रेमियोंका आपसमें जलके छींटेकी मार देना ।

१३ चित्रयोगाः—विचित्र औषधादिकोंका प्रयोग जानना ।

१४ माल्यग्रथनविकल्पाः—विभिन्न प्रकारसे फूल गूँथना ।

१५ शेखरकापीडयोजनम्—शेखरक और आपीडक—सिरपर पहने जानेवाले दो माल्य-अलंकारोंका उचित स्थानपर धारण करना ।

१६ नेपथ्यप्रयोगाः—अपनेको या दूसरेको वस्त्रालंकार आदिसे सजाना ।

१७ कर्णपत्रभङ्गः—हाथी दाँतके पत्तरों आदिसे कानके गहने बनाना ।

१८ गन्धयुक्तिः—(ल० वि० ८६) ।

१९ भूषणयोजनम्—गहना पहनाना ।

२० ऐन्द्रजालायोगाः—इन्द्रजाल करना ।

२१ कौचुमारयोगाः—शरीरावयवोंको मजबूत और विलासयोग्य बनानेकी कला ।

२२ हस्तलाघवम्—हाथकी सफ़ाई ।

२३ विचित्रशाकयूषभक्ष्यविकारक्रिया—साग भाजी बनानेका कौशल ।

२४ पानकरसरागासवयोजनम्—भिन्न-भिन्न प्रकारका पेय (शर्बत वगैरह) तैयार करना ।

२५ **सूचीवानकर्माणि**—सीना, पिरोना, जाली बुनना इत्यादि ।
२६ **सूत्रक्रीड़ा**—घर, मन्दिर आदि विशेष आकृतियाँ हाथमेंके सूतसे बना लेना ।
२७ **वीणाडमरुकवाद्यानि**—वीणा, डमरू तथा अन्य बाजे बजाना ।
२८ **प्रहेलिका**—पहेली
२९. **प्रतिमाला**—
३० **दुर्वाचक योगाः**—
३१ **पुस्तकवाचनम्**—पुस्तक पढ़ना ।

(२९–३१: दे०, पृ० १४३-५)

३२ **नाटकाख्यायिकादर्शनम्**—नाटक, कहानियोंका ज्ञान ।
३३ **काव्यसमस्यापूरणम्**—समस्यापूर्ति ।
३४ **पट्टिकावेत्रवानविकल्पाः**—बेंत और बाँससे नाना प्रकारकी वस्तुओंका निर्माण ।
३५ **तक्षकर्माणि**—सोने चाँदीके गहनों और बर्तनोंपर काम करना ।
३६ **तक्षणम्**—बढ़ईगिरी ।
३७ **वास्तुविद्या**—गृहनिर्माण कला, इञ्जिनियरिंग ।
३८ **रूप्यरत्नपरीक्षा**—मणियों और रत्नोंकी परीक्षा ।
३९ **धातुवादः**—धातुओंको मिलाना, शोधना ।
४० **मणिरागाकरज्ञानम्**—रत्नोंका रंगना और उनकी खनिओंका जानना ।
४१ **वृक्षायुर्वेदयोगाः**—वृक्षोंकी चिकित्सा और उन्हें इच्छानुसार बड़ा छोटा बना लेनेकी विद्या ।
४२ **मेषकुक्कुटलावक-युद्धविधिः**—भेंड़ा, मुर्गा और लावकोंका लड़ाना ।
४३ **शुकसारिकाप्रलापनम्**—सुग्गा-मैनोंका पढ़ाना ।
४४ **उत्पादने संवाहने केशमर्दने च कौशलम्**—शरीर और सिरमें मालिश करना ।
४५ **अक्षरमुष्टिकाकथनम्**—संक्षिप्त अक्षरोंमें पूरा अर्थ जान लेना । जैसे मे० वृ० मि०—मेष, वृष, मिथुन ।
४६ **म्लेच्छितविकल्पाः**—गुप्त भाषा-विज्ञान ।
४७ **देशभाषाविज्ञानम्**—विभिन्न देशकी भाषाओंका ज्ञान ।
४८ **पुष्पशकटिका**—फूलोंसे गाड़ी घोड़ा आदि बनाना ।
४९ **निमित्तज्ञानम्**—शकुन ज्ञान ।

५० यन्त्रमातृका—स्वयंवह यन्त्रोंका बनाना ।
५१ धारणमातृका—स्मरण रखनेका विज्ञान ।
५२ सम्पाठ्यम्—किसीके पढ़े श्लोकको ज्योंका-त्यों दुहरा देना ।
५३ मानसी—(दे० पृ० १४४) ।
५४ काव्यक्रिया—काव्य बनाना ।
५५ अभिधानकोश छन्दोविज्ञानम्—कोश छन्द आदिका ज्ञान ।
५६ क्रियाकल्पः—(ल० वि० ७२) ।
५७ छलितयोगाः—वेश वाणी आदिके परिवर्तनसे दूसरोंको छलना—बहुरूपीपन ।
५८ वस्त्रगोपनानि—छोटे कपड़ेको इस प्रकार पहनना कि वह बड़ा दीखे और बड़ा, छोटा दीखे ।
५९ द्यूतविशेषाः—जुआ ।
६० आकर्ष क्रीड़ा—पासा खेलना ।
६१ बालक्रीड़नकानि—लड़कोंके खेल, गुड़िया आदि ।
६२ वैनयिकीनां विद्यानां ज्ञानम्—विनय सिखानेवाली विद्या ।
६३ वैजयिकीनां विद्यानां ज्ञानम्—विजय दिलानेवाली विद्याएं ।
६४ व्यायामिकीनां विद्यानां ज्ञानम्—व्यायाम-विद्या ।

३—शुक्रनीतिसार

१ हावभावादिसंयुक्तं नर्तनम्—हाव भावके साथ नाचना ।
२ अनेकवाद्यविकृतौ तद्वादने ज्ञानम्—आरकेस्ट्रामें अनेक प्रकारके बाजे बजा लेना ।
३ स्त्रीपुंसोः वस्त्रालंकारसन्धानम्—स्त्री और पुरुषको, वस्त्र-अलंकार पहना सकना ।
४ अनेकरूपाविर्भावकृतिज्ञानम्—पत्थर काठ आदिपर भिन्न-भिन्न आकृतियों-का निर्माण ।
५ शय्यास्तरणसंयोगपुष्पादिग्रथनम्—फूलका हार गूँथना और शय्या सजाना ।

६ **द्यूताद्यनेकक्रीडाभी रञ्जनम्**—जुआ इत्यादिसे मनोरंजन करना।

७ **अनेकासनसन्धानै रतेर्ज्ञानम्**—कामशास्त्रीय आसनों आदिका ज्ञान।

८ **मकरन्दासवादीनां मद्यादीनां कृतिः**—भिन्न-भिन्न भाँतिके शराब बना सकना।

९. **शल्यगूढाहृतौ सिराघ्रणव्यधे ज्ञानम्**—शरीरमें घुसे हुए शल्य आदि शस्त्रोंकी सहायतासे निकालना, जर्राही।

१० **हीनादिरससंयोगान्नादिसम्पाचनम्**—नाना रसोंका भोजन बनाना।

११ **वृक्षादिप्रसवारोपपालनादिकृतिः**—पेड़ पौधोंकी देख भाल, रोपाई, सिंचाईका ज्ञान।

१२ **पाषाणधात्वादिद्दृतिभस्मकरणम्**—पत्थर और धातुओंका गलाना तथा भस्म बनाना।

१३ **यावदिक्षुविकाराणां कृतिज्ञानम्**—ऊख रससे भिन्न चीनी आदि भिन्न चीजें बनाना।

१४ **धात्वोषधीनां संयोगक्रियाज्ञानम्**—धातु और औषधोंके संयोगसे रसायनोंका बनाना।

१५ **धातुसाङ्कर्यपार्थक्यकरणम्**—धातुओंके मिलाने और अलग करनेकी विद्या।

१६ **धात्वादीनां संयोगापूर्वविज्ञानम्**—धातुओंके नये संयोग बनाना।

१७ **क्षारनिष्कासनज्ञानम्**—खार बनाना।

१८ **पदादिन्यासतः शस्त्रसन्धाननिक्षेपः**—पैर ठीक करके धनुष चढ़ाना और बाण फेंकना।

१९ **सन्ध्याघाता कृष्टिभेदैः मल्लयुद्धम्**—तरह-तरहके दाँव-पेंचके साथ कुश्ती लड़ना।

२० **अभिलक्षिते देशे यन्त्राद्यस्त्रनिपातनम्**—शस्त्रोंको निशानेपर फेंकना।

२१ **वाद्यसंकेततो व्यूहरचनादि**—बाजेके संकेतसे सेना-व्यूहका रचना।

२२ **गजाश्वरथगत्या तु युद्धसंयोजनम्**—हाथी घोड़े या रथसे युद्ध करना।

२३ **विविधासनमुद्राभिः देवतातोषणम्**—विभिन्न आसनों तथा मुद्राओंके द्वारा देवताको प्रसन्न करना।

२४ **सारथ्यम्**—रथ हाँकना।

२५ गजाश्वादेः गतिशिक्षा—हाथी घोड़ोंको चाल सिखाना ।

२६ मृत्तिकाकाष्ठपाषाणधातुभाण्डादिसत्क्रिया—मिट्टी, लकड़ी, पत्थर और धातुओंके बर्तन बनाना ।

२७ चित्राद्यालेखनम्—चित्र बनाना ।

२८ तटाकवापीप्रासादसमभूमिक्रिया—कुँआ, पोखरे खोदना तथा ज़मीन बराबर करना ।

२९ घट्याद्यनेकयन्त्राणां वाद्यानां कृतिः—वाद्य-यंत्र तथा पनचक्की जैसी मशीनोंका बनाना ।

३० हीनमध्यादिसंयोगवर्णाद्यै रञ्जनम्—रंगोंके भिन्न-भिन्न मिश्रणसे चित्र रंगना ।

३१ जलवाय्वग्निसंयोगनिरोधैः क्रिया—जल, वायु अग्निको साथ मिलाकर और अलग-अलग रखकर कार्य करना—इन्हें बाँधना ।

३२ नौकारथादियानानां कृतिज्ञानम्—नौका रथ आदि सवारियोंका बनाना ।

३३ सूत्रादिरज्जुकरणविज्ञानम्—सूत और रस्सी बनानेका ज्ञान ।

३४ अनेकतन्तुसंयोगैः पटबन्धः—सूतसे कपड़ा बुनना ।

३५ रत्नानां वेधादिसदसज्ज्ञानम्—रत्नोंकी परीक्षा, उन्हें काटना छेदना आदि ।

३६ स्वर्णादीनान्तु याथार्थ्यविज्ञानम्—सोनेके जाँचनेका ज्ञान ।

३७ कृत्रिमस्वर्णरत्नादिक्रियाज्ञानम्—बनावटी सोना रत्न आदि बनाना ।

३८ स्वर्णाद्यलङ्कारकृतिः—सोने आदिका गहना बनाना ।

३९ लेपादिसत्कृतिः—मुलम्मा देना, पानी चढ़ाना ।

४० चर्मणां मार्दवादिक्रियाज्ञानम्—चमड़ेको नर्म बनाना ।

४१ पशुचर्माङ्गनिर्हारज्ञानम्—पशुके शरीरसे चमड़ा मांस आदिको अलग कर सकना ।

४२ दुग्धदोहादिघृतान्तं विज्ञानम्—दूध दुहना और उससे घी निकालना ।

४३ कञ्चुकादीनां सीवने विज्ञानम्—चोली आदिका सीना ।

४४ जलेबाह्वादिभिस्तरणम्—हाथकी सहायतासे तैरना ।

४५ गृहभाण्डादेर्मार्जने विज्ञानम्—घर तथा घरके बर्तनोंको साफ़ करनेमें निपुणता ।

४६ वस्त्रसंमार्जनम्—कपड़ा साफ करना।
४७ क्षुरकर्म—हजामत बनाना।
४८ तिलमांसादिस्नेहानां निष्कासने कृतिः—तिल और मांस आदिसे तेल निकालना।
४९ सीराद्याकर्षणे ज्ञानम्—खेत जोतना, निराना आदि।
५० वृक्षाद्यारोहणे ज्ञानम्—वृक्षपर चढ़ना।
५१ मनोनुकूलसेवायाः कृतिज्ञानम्—अनुकूल सेवा द्वारा दूसरोंको प्रसन्न करना।
५२ वेणुतृणादिपात्राणां कृतिज्ञानम्—बाँस, नरकट आदिसे बर्तन आदिका बना लेना।
५३ काचपात्रादिकरणविज्ञानम्—शीशेका बर्तन बनाना।
५४ जलानां संसेचनं संहरणम्—जल लाना और सींचना।
५५ लोहाभिसारशस्त्रास्त्रकृतिज्ञानम्—धातुओंसे हथियार बनाना।
५६ गजाश्ववृषभोष्ट्राणां पल्याणादिक्रिया—हाथी, घोड़ा, बैल, ऊँट आदिका जीन, चारजामाओंका हौदा बनाना।
५७ शिशोस्संरक्षणे धारणे क्रीड़ने ज्ञानम्—बच्चोंको पालना और खेलाना।
५८ अपराधिजनेसु युक्तताडनज्ञानम्—अपराधियोंको ढंगसे मरम्मत करना।
५९ नानादेशीयवर्णानां सुसम्यग्लेखने ज्ञानम्—भिन्न-भिन्न देशीय लिपियों-का लिखना।
६० ताम्बूलरक्षादिकृतिविज्ञानम्—पानके बीड़े बनानेकी विधि।
६१ आदानम्—कलामर्मज्ञता।
६२ आशुकारित्वम्—शीघ्र काम कर सकना।
६३ प्रतिदानम्—कलाओंको सिखा सकना।
६४ चिरेक्रिया—देर-देरसे काम करना।

४—प्रबन्धकोश

[इनका अर्थ स्पष्ट है। जो विशेष हैं उनकी व्याख्या पीछेकी सूचियोंमें है।]

१ लिखितम्—
२ गणितम्—
३ गीतम्—
४ नृत्यम्—
५ पठितम्—
६ वाद्यम्—
७ व्याकरणम्—
८ छन्दः—

९ ज्योतिषम्—
१० शिक्षा—
११ निरुक्तम्—
१२ कात्यायनम्—
१३ निघण्टुः—
१४ पत्रच्छेद्यम्—
१५ नखच्छेद्यम्—
१६ रत्नपरीक्षा—
१७ आयुधाभ्यासः—
१८ गजारोहणम्—
१९ तुरगारोहणम्—
२० तपःशिक्षा—
२१ मन्त्रवादः—
२२ यन्त्रवादः—
२३ रसवादः—
२४ खन्यवादः—
२५ रसायनम्—
२६ विज्ञानम्—
२७ तर्कवादः—
२८ सिद्धान्तः—
२९ विषवादः—
३० गारुडम्—
३१ शाकुनम्—
३२ वैद्यकम्—
३३ आचार्यविद्या
३४ आगमः—
३५ प्रासादलक्षणम्—
३६ सामुद्रिकम्—
३७ स्मृतिः—
३८ पुराणम्—
३९ इतिहासः—
४० वेदः—
४१ विधिः—
४२ विद्यानुवादः—
४३ दर्शनसंस्कारः—
४४ खेचरीकला—
४५ अमरीकला—
४६ इन्द्रजालम्—
४७ पातालसिद्धिः—
४८ धूर्त्तशम्बलम्—
४९ गन्धवादः—
५० वृक्षचिकित्सा—
५१ कृत्रिम मणिकर्म—
५२ सर्वकरणी—
५३ वश्यकर्म—
५४ पणकर्म—
५५ चित्रकर्म—
५६ काष्ठघटनम्—
५७ पाषाणकर्म—
५८ लेपकर्म—
५९ चर्मकर्म—
६० यन्त्रकरसवती—
६१ काव्यम्—
६२ अलङ्कारः—
६३ हसितम्—
६४ संस्कृतम्—
६५ प्राकृतम्—
६६ पैशाचिकम्—
६७ अपभ्रंशम्—
६८ कपटम्—
६९ देशभाषा—
७० धातुकर्म—
७१ प्रयोगोपायः—
७२ केवलिविधिः ।

——०——